

देवता

कुर्सी के

क्षितीश विद्यालंकार



देवता : कुर्सी के

अलंकार प्रकाशन, ६६६-झील, दिल्ली-५१

देवता: कुर्सी के

क्षितीश विद्यालंकार

(१९५३) मीर प्रेम १ २०५

१९५३ मीर २०५

संस्कृत संस्कृत : संस्कृत

(१९५३) मीर प्रेम

१९५३

१९५३

मूल्य : बारह रुपये (१२.००)

संस्करण : प्रथम १९७६

प्रकाशक : अलंकार प्रकाशन

६६६ भील, दिल्ली-११००५१

DEVTA KURSI KE by Kshitish Vidyalkar Rs. 12

वस्तुकथा *

आपातकाल समाप्त होने के बाद जैसे राजनीतिक परिवेश में परिवर्तन आया, वैसे ही जनता के मानसिक क्षितिज पर भी आशाओं के नए-नए नक्षत्र उदित होने लगे। आपातकाल की अंधियारी में कुण्ठाग्रस्त लेखकीय ईमानदारी दिन के उजाले में तो खुलकर सामने आनी चाहिए थी, पर साहित्यिक लेखन यदि क्षणजीवी राजनीति पर ही कशाघात करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ले तो वह भी क्षणजीवी ही सिद्ध होगा। किसी लेखन में यदि स्थायित्व का तनिक भी गुण न हो तो उसे 'साहित्यिक' विशेषण दिया ही क्यों जाए ! इन लेखों में कितना स्थायित्व है, वह तो पाठक जानें, पर राजनीतिक घटना-चक्र पृष्ठभूमि में रहने पर भी, इनमें राजनीति उतनी नहीं है, जितनी साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्रयत्न है। कदाचित् साहित्य का स्पर्श पाकर राजनीति भी तर जाए, अन्यथा केवल राजनीति—नीति-बिहीन राजनीति—सिवाय डूबने और डुबाने के और क्या करेगी।

'अमरकोष' में देवताओं के पर्यायवाचियों का परिगणन करते हुए कहा है—

अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधा : सुराः ।

सुपर्वाणः सुमन—सस्त्रिदिवेशा दिवौकसः ॥

'देवी के आभामण्डल' से लेकर 'हमारा खुने ज़िगर हर चमन के लिए' तक के अनेक लेखों में आपको देवताओं की झलक मिलेगी। ये पुराणोक्त सुलोक-स्थिर प्राचीन देवता नहीं, आधुनिक युग के आधुनिक देवता हैं—कुर्सी के देवता।

देवता जरा और मृत्यु से परे थे, ये देवता भी जरा और मृत्यु (!) से परे। कम-से-कम ये अपने आपको अ-जर और अ-मर मान कर ही चलते हैं। वे

* प्राचीन पालि-ग्रन्थों में वस्तुकथा (वत्थुगाथा) शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है जिस अर्थ में आजकल नूमिका शब्द प्रयुक्त होता है।

देवता त्रिदश (तीस) थे, ये भी त्रिदश हैं—इनकी तीन दशाएं हैं—एक अवस्था कुर्सी पर बैठने से पहले, दूसरी अवस्था कुर्सी पर आसीन होने पर, और तीसरी अवस्था नीचे से कुर्सी खिसक जाने के बाद। 'विबुध' (बुद्धिमान्) तो ये हैं ही—कोई विषय ऐसा नहीं जिस पर भाषण न दे सकते हों—वैज्ञानिकों के सम्मेलन से लेकर नाइयों की गोष्ठी तक। 'सुरा' का सम्बन्ध 'सुरा' से तो होना ही चाहिए। नशाबन्दी और नसबन्दी सब मर्त्यलोक के लिए है, कुर्सी लोक के लिए नहीं। 'सुपवर्णिः' (अच्छे पंख वाले) ये नहीं है, तो कौन है, तभी तो सदा पक्षियों से भी अधिक तेज गति से गुगन-बिहारी बने रहते हैं। 'सुमनसः' तो स्पष्ट ही कुर्सी के देवताओं के लिए बैठता है +

—क्योंकि फूलों के जितने हार इनके गले में पड़ते हैं, उतने अन्य देवताओं के नहीं। रहा 'दिवीकसः'—बुलोक में जिनका निवास है उनके घरों की हालत क्या होगी, कौन जाने! पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जो सुख-सुविधाएं और साज-सरंजाम कुर्सी के देवताओं के कक्षों में सुलभ हैं, वे अन्य देवताओं के लिए दुर्लभ हैं।

वातानुइति यरो

एक बात और, ये लेख काल और देश (स्थान) की निर्धारित सीमा के अन्तर्गत, अन्य व्यस्तताओं के मध्य, भागते-भागते से लिखे गए हैं। प्रेस का कम्पोजीटर सिर पर खड़ा हो और आप एक-एक 'कापी' लिखकर उसके हवाले करते जाते हों, तब मानसिक तनाव कितना जबर्दस्त होता है, इसे भुक्तभोगी ही जानें। पर पाठक को इससे क्या मतलब कि लेखक ने किस मनोदशा में ये लेख लिखे हैं। उसे तो उत्तम, स्वादिष्ट, रोचक और सुपाच्य भोजन चाहिए। पाचक की परेशानी से उसे क्या!

तो यह 'देवता : कुर्सी के' आपकी थाली में परोस रहा हूँ। षड्रस-व्यंजन की बात नहीं करता, क्योंकि साहित्य में छह के बजाय नौ रस माने गए हैं। हो सकता है, इन लेखों में कोई भी रस न हो, या सभी रसों का विचित्र मिश्रण हो। पर 'काकटेल' युग के लोगों को मिश्रण में ही आनन्द आने की बात सुनता हूँ।

क्रम

- ६ : देवी का आभामण्डल [ब्रिटेन में काली का पोस्टर]
- १४ : एक सनातन रोग [व्यक्ति पूजा और सामुहिक नेतृत्व]
- १८ : सबको अपनी-अपनी पड़ी
- २२ : राजनीतिक मृत्युभोज [आंध्र में भीषण तूफान]
- २६ : मरसोत्तर जीवन [नेहरू और गांधी]
- ३० : अवमूल्यन जीवन मूल्यों का
- ३४ : काल और कालपात्र [कालपात्र]
- ३८ : प्रकृति और मानवता का प्रेमी [कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का स्वर्गवास]
- ४१ : देवदत्त और हंस [कांग्रेस का विभाजन]
- ४६ : विलासिता के मानदण्ड [मंत्रियों की फिजूलखर्ची]
- ५० : आजादी का दीवाना [सुभाष जयन्ती]
- ५४ : एक और महात्मा बुद्ध [गांधी बलिदान-दिवस]
- ५८ : न रहे बांस, न बजे बांसुरी [साहित्यिकों की उपेक्षा]
- ६३ : अरमानों के स्मारक
- ६७ : आई० आई० आई० [कांग्रेस (इ) का जन्म]
- ७१ : भुट्टो बनाम घासोराम [भुट्टो पर मुकदमा]
- ७६ : पांच पल की प्रलय [दिल्ली में चक्रवात]
- ८० : कोयल से चमगादड़ तक [होली]
- ८५ : ऊधो ! जोग जोग हम नहीं [योग का आयात]
- ८६ : जिन्दगी को दास्तां ही दास्तां समझा था मैं [घास का निर्यात]

- ६३ : पार्वती और पर्वत [हिमाचल दिवस]
- ६७ : तुमने तो खैर बेवफाई की [राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी]
- १०१ : गुड़ की मिठास [अमीरी और गरीबी]
- १०५ : 'आंख का अन्धा, गांठ का पूरा' [सूर जयन्ती]
- ११० : वैशाली का आह्वान [बुद्ध पूर्णिमा]
- ११४ : कहां मिले प्याले उर को जल [गर्मी में जल-संकट]
- ११८ : एवरेस्ट, तुम महान् हो ! [एवरेस्ट आरोहण की जयन्ती]
- १२२ : कुर्सी के देवता ! [मंत्रियों की हरकतें]
- १२६ : हिमालय की गंगा-यमुना [गंगा दशहरा]
- १३० : हकीकत में क्या कहूँ ? [शासक दल की आपसी खींचतान]
- १३४ : पांचाली या 'पथेर पांचाली' [गृहमन्त्री का त्यागपत्र]
- १३८ : फूटी आंख बिबेक की [परस्पर दोषारोपण]
- १४२ : मेरी गजल में तख्तलुस किसी का फिट कर दो
[महिषी तंत्र और महिष तंत्र]
- १४६ : जनाब को जनाब न कहें [शब्द और अर्थ के चमत्कार]
- १५१ : सदा रहत पावस ऋतु हम पर ! [बरसात का मौसम]
- १५६ : पत्रा ही तिथि पाइए [राजनीतिज्ञ और ज्योतिषी]
- १६० : हमीं अपने दुश्मन हुए जा रहे हैं
- १६५ : हमारा खूने ज़िगर हर चमन के लिए

देवी का आभामण्डल

आजकल ब्रिटेन में काली माई की चर्चा चल रही है। ब्रिटेन की सड़क सुरक्षा परिषद् ने एक पोस्टर निकाला है जिसमें दैत्यसंहारिणी, दुष्टदल-दारिणी, मुण्डभालिनी काली का ताण्डवनृत्य की मुद्रा में चित्रण है। इस चित्र से ब्रिटेनवासी भारतवंशियों की भावना को ठेस लगी है और उन्होंने इस पोस्टर का हटाने की मांग की है। बात और आगे बढ़ गई, भारत सरकार ने ब्रिटेन स्थित अपने उच्चायोग की भाषित इस पोस्टर के प्रति विरोध प्रकट किया। इस पर ब्रिटिश सरकार ने उत्तर दिया कि पोस्टर प्रकाशित करने वाली संस्था सरकारी नहीं है, न ही सरकार से वह कोई वित्तीय सहायता लेती है, इसलिए ब्रिटिश सरकार उस संस्था के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं कर सकती, इसलिए भारतीय उच्चायोग को सीधे उस संस्था से ही बात करनी चाहिए। ब्रिटिश सरकार के इस वक्तव्य से ब्रिटेन के हिन्दू नेताओं को बड़ी निराशा हुई है।

जहाँ तक हिन्दू-दर्शन और पौराणिक आख्यान-माला का प्रश्न है, वह तो इतना व्यापक है कि उसने एक ही आद्याशक्ति को नाना देवी-देवताओं के रूप में चित्रित किया है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का नियामक सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर तो एक ही है पर वही ईश्वर जब सृष्टि उत्पन्न करता है, तब ब्रह्मा कहलाता है, जब सृष्टि का पालन करता है, तब विष्णु कहलाता है, और सृष्टि का संहार करता है, तब शिव कहलाता है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश के रूप में त्रिदेव का यही रहस्य है, वस्तुतः देव एक ही है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' और 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' आदि वेदमंत्रों में इसी बहुत्व के एकत्व में समाहित होने का सुन्दर निदर्शन है।

१० देवता : कुर्सी के

यही आलंकारिक दर्शन जब विश्वनियन्ता को जगदम्बा या जगज्जननी के रूप में चित्रित करता है तब वहाँ भी त्रिदेवियाँ उपस्थित हो जाती हैं, सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा। इन तीनों देवियों को ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पत्नियों के रूप में चित्रित किया गया। बात वही है अर्थात् ये तीन देवियाँ सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति-प्रलय की वाहिका हैं। फिर तीनों देवों की तरह इन तीनों देवियों का अलग रूप विस्तार हुआ। महामाया, महाकाली, महा-चण्डी—ये सब दुर्गा के ही रूप विस्तार हैं। तत्व की सही रूप में न समझने वाले इस विस्तार में उलझ कर बहक जाते थे और इस समस्त पौराणिक बाङ्गमय में निहित एक-सूत्रता का सूत्र हाथ से निकल जाता है। जब हृदय की सरस भावनाओं के साथ बुद्धि और कल्पना के पंख मिल जाते हैं, तब मन को उड़ान भरते क्या देर लगती है ?

देवियों के रूपों में किस तरह परिवर्तन होता है, इसके उदाहरण आख्यानो से उतर कर व्यावहारिक जगत में भी देखने को मिलते हैं।

अब से लगभग ५०० वर्ष पुरानी बात है। फ्रांस और इंग्लैण्ड का युद्ध चल रहा था। फ्रांस का राजा सप्तम चार्ल्स सर्वथा निकम्मा था और उसमें ब्रिटिश सेना से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की सेना का फ्रांस पर आधिपत्य होता जा रहा था। जब फ्रांस का स्वाधीनता-सूर्य सर्वथा अस्तायमान हो चला, तभी अकस्मात् एक कृषक कन्या के मन में फ्रांस के प्राचीन गौरव की आभा देदीप्यमान हो उठी। उसे ईश्वर की ओर से प्रेरणा मिली कि फ्रांस को विदेशियों के पंजे से मुक्त कराना है। जब फ्रांस के निवासियों में ब्रिटिश सेना का आतंक और भय छाया हुआ था और चार्ल्स और निराशा का अन्धकार व्याप्त था, तब वह कृषक कन्या पुरुषों का परिधान पहनकर तत्कालीन सेना नायक के पास पहुँची और उसने कहा कि आप सेना की बागडोर मुझे सौंपिये, मैं फ्रांस को आजाद कराऊँगी, चार्ल्स को राज सिंहासन पर बिठाकर उनका राज्याभिषेक करूँगी और ब्रिटिश सेना को मार भगाऊँगी—ईश्वर की ओर से मुझे यही आदेश मिला है।

सभी सेना नायकों ने १८ वर्ष की उस ग्रामीण किशोरी का उपहास किया। पर उस किशोरी का आत्मविश्वास, उसका तेज और अोज—सब

इतने प्रभावित करने वाले थे कि अन्त में सेना नायकों ने सेना की बागडोर उसे सौंप दी। उस किशोरी का नाम था जोन, जोन आफ आर्क।

जोन आफ आर्क ने सैनिक की वर्दी और कवच धारण किया और धोड़े पर बैठकर सेना का नेतृत्व करने के लिए मोर्चे पर पहुंच गई। उसने सैनिकों में देशभक्ति की ऐसी भावना फूँकी कि अब तक जो सैनिक मिट्टी के माघो बने हुए थे, वे ही प्रलयकारी योद्धा बनकर ब्रिटिश सेना पर टूट पड़े और उन्होंने ब्रिटिश सेना को परास्त कर दिया। उसके बाद जोन ने चार्ल्स को राजा बनाने का अपना वचन भी पूरा कर दिखाया।

पर फ्रांस के कुछ भागों में ब्रिटिश सेना अभी मौजूद थी। चार्ल्स के राज्याभिषेक के पश्चात जोन आफ आर्क फिर युद्ध के मोर्चे पर पहुंच गई और उसने ब्रिटिश सेना से फ्रांस की भूमि का एक-एक इंच मुक्त करने का जवर्दस्त अभियान प्रारम्भ कर दिया। पर इस बार जोन दुश्मन के हाथों बंदी बना ली गई।

जब तक जोन युद्धों में विजय प्राप्त करती रही, तब तक सारा फ्रांस उसके यश के गीत गाता रहा, उसके व्यक्तित्व के साथ दैवीय चमत्कारों के आभा मंडल जोड़ दिए, पर जब वह पराजित होकर बन्दी बना ली गई तो वह आभा मंडल देखते-देखते खण्डित हो गया। राजा तो पहले ही असमर्थ था, अब उसके सब सलाहकार प्रमुख सेनानायक और धर्माध्यक्ष अन्दर ही अन्दर ईर्ष्या की अग्नि से दग्ध होकर जोन के विरोधी हो उठे। उन लोगों ने सोचा—इस कल की छोकरी ने हमारे यश को वट्टा लगा दिया। हमारी सारी महत्ता और सत्ता इसने धूल में मिला दी। धर्मयाजकों के तो क्रोध का ठिकाना ही नहीं रहा—धर्म के और ईश्वर के असली ठेकेदार तो हम हैं। अगर ईश्वर का कोई संदेश या आदेश किसी के पास आवे तो वह सिर्फ हमारी ही मार्फत आना चाहिए। इस ग्रामीण छोकरी के पास ईश्वर की वाणी कैसे आ सकती है। इसने जनता को धोखा दिया है। यह काफिर है। उसके असत्याचरण का दण्ड उसे मिलना ही चाहिए। जो हुआ, सो अच्छा हुआ।

इन धर्मयाजकों ने अंग्रेजों से कहा कि इस जादूगरनी पिशाचिनी को हमें सौंप दो तो हम ही इसे उपयुक्त दण्ड दे देंगे। अंग्रेज भी अपनी पराजय का

१२ देवता : कुर्सि के

बदला लेना चाहते थे—इससे बढ़कर उनकी मंशा और क्या होती कि जोन अपने ही देशवासियों के हाथों अपमानित और प्रताड़ित हो।

अंग्रेजों ने जोन को सौंप दिया। जोन पर मुकदमा चला। उस पर ये आरोप लगाए गए—इसने नारी होकर पुरुष वेष धारण करके जातीय शिष्टाचार का हनन किया है। युद्ध क्षेत्र में सम्मिलित होकर उसने फ्रांस की अभिजात संस्कृति पर कुठाराघात किया है। ईश्वर से सीधे ही संदेश प्राप्त करके इसने धर्माध्यक्षों का अपमान किया है, और जनता से छल किया है। ये सारे आरोप प्रमाणित हो गए। अन्त में न्यायाधीशों ने इन अपराधों के लिए उसे प्रज्वलित अग्निकुण्ड में जीवित जला देने का आदेश दिया। फ्रांस को स्वाधीन कराने का जोन को यह पुरस्कार मिला।

विश्वविख्यात नाटककार जार्ज वनर्डिं शा ने 'सेण्ट जोन' नामक जो नाटक लिखा, वह जोन को अग्निकुण्ड में भोंक देने के साथ समाप्त हो जाना चाहिए था। पर शा की अन्तरात्मा ने इसे गवारा नहीं किया। अपने नाटक के अन्त में एक समाप्ति-दृश्य उन्होंने और लिखा।

इस घटना के २५ वर्ष बाद। फ्रांस का राजा चार्ल्स अर्धनिद्रित अवस्था में अपने शयनागार में लेटा था। उसे एक छायामूर्ति द्वारा से अन्दर आती दिखाई दी। वह छायामूर्ति जोन आफ आर्क की थी। राजा ने उससे कहा—देवी ! इस बीच की अवधि में सारी स्थिति उलट गई है। तुम्हें दिया गया दण्ड का आदेश वापिस ले लिया गया है। तुम्हारी स्मृति की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर तुम्हारी मूर्तियाँ लगाई गई हैं। तुम्हें बाकायदा सन्तों की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया गया है और सब गिरजाघरों में तुम्हारे जन्म दिवस और मृत्यु दिवस पर विशेष प्रार्थना-समारोहों का आयोजन किया गया है। सभी सामन्तों, सेनानायकों और धर्माध्यक्षों ने यह स्वीकार किया है कि उस समय तुम्हारे साथ अन्याय हुआ था। तुम्हें अग्निकुण्ड में जलाने का आदेश देने वाले सभी न्यायाधीश काल-कवलित हो चुके हैं। उस समय सभी ईर्ष्या से दग्ध थे। तुम्हारी वीरता से फ्रांस को उसका गौरव वापिस मिला है। तुम सारे देश और सारी जाति की वन्दनीय हो, नमस्करणीय हो।

छाया मूर्ति ने यह सब सुना तो गद्गद होकर कहा—अगर मेरे देशवासियों

की मेरे प्रति ऐसी ही श्रद्धा है, तो मेरी इच्छा है कि मैं फिर शरीर धारण करके वापिस फ्रांस की सेवा करने के लिए आ जाऊँ ।

यह सुनते ही सबके मुख विवर्ण हो गए । वह श्रद्धा, आस्था, आदरभाव न जाने कहाँ विलीन हो गया । सबने एक स्वर से कहा कि तुम वापिस मत आओ, परलोक में ही रहो । तुम्हारे लौटने से बड़ी गड़बड़ी होगी । हमारा यश धूमिल हो जाएगा । और हाँ, अगर तुम आ ही गईं तो हमें फिर तुम्हें अग्निकुण्ड में शरण देनी पड़ेगी ।

और इसके बाद छाया मूर्ति अदृश्य हो गई ।

एक सनातन रोग

एक धनी व्यक्ति को ऐसा विचित्र रोग था कि कोई भी चिकित्सक उसका सही निदान नहीं कर पाता था। उसकी आंखें निकल पड़ती थीं। कानों में भनभनाहट होती थी। सिर चकराता था। वह एक से बढ़कर एक चिकित्सक के पास गया। किसी ने कहा—‘तुम्हारी आंखें कमजोर पड़ गई हैं, चश्मा लगाओ।’ उसने चश्मा लगाना शुरू कर दिया, पर रोग ठीक नहीं हुआ।

फिर वह और बड़े डाक्टर के पास गया। उसने कहा—‘तुम्हारे दाँत खराब हो गए हैं, निकलवाने पड़ेंगे।’ उसने सारे दाँत निकलवा दिए, लेकिन बीमारी जहाँ थी, वहीं रही।

किसी ने कहा—‘तुम्हारे पेट में गड़बड़ है, एपेंडिक्स निकालना पड़ेगा।’ एपेंडिक्स का आपरेशन हो गया। पर बीमारी नहीं हटी।

जब धनपति बहुत परेशान हो गया तो देश के सबसे बड़े चिकित्सक के पास गया। उसने सब तरह के परीक्षण करने के बाद उस धनपति को बताया कि तुम्हारी बीमारी का कोई स्पष्ट कारण नजर नहीं आता, इसलिए यह ठीक नहीं हो सकती। मैं तुम्हें सच्ची बात बता देता हूँ कि तुम चाहे दाँत निकलवाओ, चाहे आँख, जो निकलवाना चाहो निकलवाओ, पर तुम्हारी बीमारी ठीक होने वाली नहीं। हाँ इतना और बताएँ देता हूँ कि तुम्हारी जिन्दगी छह महीने और बाकी है।

धनपति ने डाक्टर को धन्यवाद दिया और कहा कि आपने बड़ी कृपा की, जो सच-सच बात मुझे बता दी। फिर उस धनपति ने सोचा कि जब छह महीने से ज्यादा मुझे नहीं बचना, तो क्यों न मैं अपने जीवन के सारे अरमान इन

छह महीनों में ही पूरे कर लूं। उसने खूब बढ़िया आलीशान मकान खरीदा। उसकी सजावट पर अंधा-धुन्ध खर्च किया। सुन्दर-सुन्दर गाड़ियां खरीदीं। ऐशो इशरत के और सामानों का ढेर लगा दिया। फिर देश के सबसे बढ़िया दर्जी को बुलाकर उसे सर्वश्रेष्ठ कपड़े के दो सौ सूट सीने का आर्डर दिया। उसने सोचा—रोज नया सूट पहनूंगा, एक बार पहना सूट दुबारा क्यों पहनूं।

दर्जी ने धनपति का नाप लेना शुरू किया। नाप लेकर वह अपने सहायक को लिखवाने लगा। उसने मले का नाप लेकर कहा—‘लिखो, सोलह इंच।’ धनपति ने कहा—‘सोलह ? मैं तो हमेशा पन्द्रह इंच का कालर पहनता हूँ।’ दर्जी ने कहा—‘आप चाहे जितने इंच का कालर पहनिए, आपकी मर्जी। लेकिन जब तक आप पन्द्रह इंच का कालर पहनेंगे तो आपकी आंखें बाहर निकल पड़ेंगी, सिर में चक्कर आते मालूम पड़ेंगे।’

धनपति मुनकर अवाक् हो गया। बोला—‘क्या कहते हो, मैं हमेशा पन्द्रह का ही पहनता हूँ और मेरी आंखें बाहर निकलती मालूम पड़ती हैं, सिर चकराता है, कान भनभनाते हैं।’ दर्जी बोला—‘जब तक कालर इतना कसा हुआ रहेगा, तब तक ये सब शिकायतें रहेंगी ही।’

असल में आदमी की बीमारी वहां नहीं है जहां चिकित्सक उसे खोजते हैं। चिकित्सक चिकित्सा शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार रोग का निदान करना चाहते हैं। जटिल और कठिन में उलझे रहने वाले लोगों की आंखों से अक्सर सरल ओझल हो जाता है। मनुष्य को सबसे बड़ी बीमारी यह है कि उसने आसपास कल्पनाओं का ऐसा जाल बुन रखा है जो उसे कदम-कदम पर सत्य की ओर बढ़ने से रोकता है। वह अपनी कल्पना को ही सत्य मानने लगता है और धीरे-धीरे उसी के जाल में खो जाता है। पर कल्पना कितनी ही मधुर सुखद और प्रीतिकर क्यों न हो, उस पर चढ़कर सत्य की यात्रा नहीं की जा सकती। सपनों की नावों से सागर नहीं लांघा जा सकता। ये सपने चाहे अपनी कल्पना से प्रसूत हों, चाहे चाटुकारों के चटुल वचनों से। पर सपने, सपने हैं, यथार्थ नहीं।

स्व-निर्मित कल्पना-जाल में उलझे राजनीतिज्ञों के जीवन में कभी-कभी

ऐसे क्षण आते हैं जो उनके सारे राजनीतिक जीवन को निर्णायक रूप से प्रभावित कर जाते हैं। 'वे आफ पिम्स' के सम्बन्ध में राष्ट्रपति कैंनेडी ने सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर जहाँ अमरीकी जनता की सहानुभूति अर्जित कर ली, वहाँ जेराल्ड फोर्ड ने रिचार्ड निक्सन को क्षमा प्रदान करके अपना राष्ट्रपति पद गंवा दिया। राजनीतिज्ञों का जीवन इतना अस्थिर होता है कि जरासी फिसलन उनको उच्च पर्वत-शिखर से गहरे खड्ड में गिरा देती है। इस दृष्टि से लोकतंत्र और भी खतरनाक है। चर्चिल का कहना था कि लोकतंत्र जितना बदला लेता है, उतना राजा नहीं लेते। कारण इसका यह कि जब विशाल जन-समुदाय लोकतंत्र में हिस्सा लेता है, तब बहुत बार ऐसे राजनीतिज्ञ ऊपर आ जाते हैं जो विद्या-बुद्धि-योग्यता और चातुर्य में किसी भी कदर आम आदमी से बड़ कर नहीं होते।

इसीलिए व्यक्ति पूजा के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व की बात आई है। आपातकाल के दौरान सामूहिक नेतृत्व का मखौल उड़ाने वाले आज व्यक्ति-पूजा का मखौल उड़ाते हैं। मिस्त्र के प्रसिद्ध पत्रकार हेकल ने सामूहिक नेतृत्व का उदाहरण देते हुए कहा कि सोवियत संघ में स्तालिन और ख्रुश्चेव जैसे दबंग व्यक्तियों के स्थान पर ऐसे लोगों की समिति के हाथ में सत्ता की बागडोर आ गई जिनके चारों ओर कोई आभा-मंडल नहीं था। जनरल डीगाल को आज फ्रांस में कौन याद करता है, बल्कि राष्ट्रीय गौरव के साथ उसका नाम जोड़े जाने पर लोग ठहाके लगाते हैं। क्या लुई चौदहवें की तरह आज कोई भी राजनेता यह कहने की हिमाकत करेगा—'राष्ट्र ? राष्ट्र तो मैं हूँ ?' और तो और, नेपोलियन भी अपने आपको जनता के सामने केवल जन-सेवक होने की बात कहा करता था। ल्यू-शाओ-ची ने चीनी जनता का नाम लेकर ही सांस्कृतिक क्रांति में प्रवेश किया था, और फिर उसी चीनी जनता के नाम पर माओ-त्से-तुंग ने उसे पूंजीपतियों का हमराही बताया। ऐसी हालत में सुरक्षित रास्ता यही है कि जब दो भीड़ें भिन्न-भिन्न नारे लगा रही हों तो आप भी अपेक्षाकृत बड़ी भीड़ में शामिल होकर नारे लगाना शुरू कर दीजिए, तब आपको कोई गलत नहीं कहेगा।

जब नेता लोग अत्यन्त विनम्र और क्षमाशील बन जाते हैं तो रंगत और

रौनक की शौकीन जनता को वातावरण नीरस लगने लगता है। रंगत तो तभी आती है, जब कुछ अकड़ हो, कुछ धमकियाँ और चुर्नातियाँ हों, कुछ उतार-चढ़ाव हों। समतल मैदान का सफर भी कोई सफर है? जर्मन केसर विल्हेल्म जब सेना को सम्बोधित करता था तो अपनी आँखों को खास ढंग से चमकाने का अभ्यास करता था और प्रिन्स बिस्मार्क ने अपनी प्रुशियन आक्रामकता को जोर देने के लिए बाघ जैसी मूँछें रखनी शुरू कर दी थीं। आर्कमिडीज कहा करता था कि मैं पृथ्वी को उठा सकता हूँ, यदि मुझे लीवर को इस्तेमाल करने के लायक कोई स्थान मिल जाए। पर अहंकार का श्रेय किसी को देना ही हो तो अमरीकी लेखिका गरटुड स्टोन को देना चाहिए। उसने एक बार शान में आकर कहा था कि यहूदियों ने आज तक केवल तीन ही प्रतिभाशाली व्यक्ति उत्पन्न किए हैं—ईसामसीह, स्पिनोजा और मैं।

अहंकार ही मनुष्य का सनातन रोग है। मनुष्य उन्हीं बातों को स्वीकार करता है जिनसे उनके अहंकार को तृप्ति मिलती है। पर अहंकार है कि कभी तृप्त नहीं होता। जब कापरनिक्स और गैलीलियो ने कहा कि सूरज नहीं, जमीन ही सूरज का चक्कर लगाती है, तब धर्म-धुरीणों को बहुत बुरा लगा। अब तक वे यही कहते आए थे कि भगवान ने इस पृथ्वी को विश्व का केन्द्र बनाया है और आदमी को यहां पैदा किया है। हम जिस जमीन पर रहते हैं, वह जमीन सूरज का चक्कर लगाए, यह कभी नहीं हो सकता। सूरज ही हमारी पृथ्वी का चक्कर लगाता है।

कापरनिक्स और गैलीलियो को इस बात की सजा मिली कि उन्होंने आदमी के अहंकार को उस पहुँचाई। पर इतिहास कितना निर्भम है कि उसने कापरनिक्स और गैलीलियो को ही वैज्ञानिक सत्य का उद्घोषक माना और माननीय अहंकार के उकेदारों को अपने पन्नों में से बूझ कर साफ कर दिया।

सबको अपनी-अपनी पड़ी

के.पी.एस. मेनन जब चीन में भारत के राजदूत थे तब एक दिन एक चीनी पत्रिका में उन्होंने एक कार्टून देखा। वह कार्टून था लिन-यू-तांग के सम्बन्ध में।

लिन-यू-तांग चीन के प्रसिद्ध लेखक थे और बाद में अमरीका में जा बसे थे। एक दिन कनफ्यूशस ने स्वप्न में उन्हें दर्शन दिए और उनसे पूछा कि आप इतने समृद्ध कैसे हो गए? लिन-यू-तांग ने कहा कि मैं इतना समृद्ध इसलिए हो गया, क्योंकि मैंने अपने देश और अपनी जनता को बेच दिया।

इस व्यंग्य चित्र का पैनापन इस बात से और बढ़ जाता है कि लिन-यू-तांग की ही लिखी प्रसिद्ध पुस्तक है—‘अपना देश और अपनी जनता।’

जब आदमी किसी न किसी प्रकार समृद्धि पाने को आतुर रहता है, तब सचमुच ही वह देश और जाति की भी चिन्ता नहीं करता। महाकवि भर्तृहरि ने लिखा है—

जातिर्यातु रसातलं गुणगुणस्तत्राप्यधो गच्छताम्
शीलं शैलतटात्पतत्त्वभिजनः संदह्यतां वह्निना ।
शौर्यं वैरिणी वज्रमाशु निपतत्त्वथोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तूणलवप्रायाः समस्ता इमे ।

देश और जाति रसातल में जाए, अन्य गुण उससे भी नीचे चले जाएं, शील को शैलतट से गिरने दो, कुलीनता को आग की भेंट चढ़ा दो, वीरता तो दुश्मन है—उस पर वज्रपात होने दो, हमें तो केवल धन चाहिए, क्योंकि उस एक के बिना बाकी सब गुण तिनके के टुकड़े के बराबर हैं।

क्या इस अर्थ-प्रधान युग में हम प्रत्यक्ष नहीं देखते कि आदमी किस प्रकार

घन के पीछे पागल होकर दौड़ रहा है ? एक तरह से आज का हर आदमी याचक बना घूम रहा है । जिसके पास है, वह भी, और जिसके पास नहीं है, वह भी ! जिसके पास कुछ नहीं है, उसका याचक बनना समझ में आ सकता है । पर आज की दुनियां की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि जिसके पास जितना अधिक है, वह उतना ही बड़ा याचक है । संस्कृत के एक कवि ने याचक का वर्णन करते हुए लिखा है—

द्वारे द्वारे परेषामविरलमटति द्वारपालैः करालैः
दृष्टो योऽप्याहृतः सन् रणति गणयति स्वापमानं तु नैव
क्षन्तुं शक्नोति नान्यं स्वसदृशमितरागारमप्याश्रयतं
आश्रयत्यात्मोदरार्थं कथमहह शुना नो समः याचकः स्यात् ॥

याचक लगातर दूसरों के दरवाजे का चक्कर लगाता है और जब विकराल द्वारपाल उसे देखकर डांट-फटकार करते हैं, तब भी उसे कोई अपमान प्रतीत नहीं होता । अपने जैसा ही दूसरा कोई याचक किसी और घर के चक्कर लगा रहा हो तो उसे वह क्षमा नहीं कर सकता और केवल अपने पेट के लिए सभी कुछ करता है । कवि पूछता है कि इस याचक में और श्वान में क्या अन्तर है ?

हो सकता है कि इस तुलना पर श्वान-समुदाय को कोई आपत्ति हो और किसी दिन उनके अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की ओर से उस कवि के प्रति विरोध-प्रस्ताव पारित हो जाए क्योंकि आज तो श्वान, फैशन का, अभिजात्य का, सम्पन्नता का और आधुनिकता का पर्याय बन गया है और कुछ श्वान तो इतनी ठाठ-वाट की जिन्दगी बशर करते हैं कि मध्यवित्त का सामान्य शिक्षित व्यक्ति तो उनके भाग्य पर ईर्ष्या कर सकता है ।

क्या जीवन में सफलता की कसौटी घन ही है ? जिसे आजकल सफलता समझा जाता है, क्या उसके कारण मनुष्य की आत्मा कलुषित नहीं हो जाती ? सफलता की लीडियां चढ़ते चढ़ते आदमी इतना पदलोलुप हो जाता है कि सदा इस जुगाड़ में लगा रहता है कि उसे वर्तमान पद की अपेक्षा और ऊँचा पद प्राप्त हो जाए । सफलता अच्छी चीज है, पर वह मानव के रूप में उसके

मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी कैसे हो सकती है ? क्राइस्ट ने कैसी अद्भुत बात कही है—

धन्य हैं वे लोग जो सबसे
अन्त में खड़े होने में
समर्थ हैं ।

इसी में सर्वोदय और अन्त्योदय की भावना छिपी है । पर अन्तिम व्यक्ति के उद्धार की घोषणा करने वाले राजनीतिज्ञ भी जब और सबको परे ठेल कर स्वयं सबसे आगे बढ़कर उस अन्तिम व्यक्ति के मुँह का कौर छीन लेने को अपनी सफलता मानते हों, तब क्या कहा जाए ? ऐसे लोगों की कुछ कलई अब शाह आयोग के सामने खुल ही रही है । पर जीवन की सफलता के मानदण्डों को निर्धारित करने वालों की तो चिन्तन-परम्परा ही दूसरी है ।

हार्लैंड का बहुत बड़ा चित्रकार हुआ है विन्सेंट वानगाग । आज तो एक-एक चित्र की कीमत चार चार और पाँच-पाँच लाख रु. आंकी जाती है, पर उसके जीवन-काल में उसका बनाया एक भी चित्र नहीं बिक सका । घर वालों ने कहा—यह पागल हो गया है । जब कोई इसके चित्रों को कौड़ी के मोल भी खरीदने को तैयार नहीं, तो यह चित्र बनाता ही क्यों है । किसी ने वानगाग से भी पूछ लिया—‘तुम चित्र बनाते ही क्यों हो जबकि तुम उसमें लगने वाले रंग का खर्च भी नहीं निकाल सकते ?’ उसने कहा—‘मुझे चित्र बनाने से प्रेम है । मेरा प्रेम और मेरी खुशी ही मेरे चित्रों का असली मूल्य है, जो मुझे चित्र बनाते ही मिल जाता है । मुझे जो कुछ इनसे पाना था, वह मैंने पा लिया है ।’

जिनके पास अच्छे वस्त्र हैं, बढ़िया मकान है, कार है, रेडियो है, टेलि-विजन है, फ्रिज है—और है खूब अच्छी आमदनी, वह आदमी खूब सफल और भरा-पूरा समझा जाता है । पर उसका अन्तः कितना खाली है और उसका भिक्षापात्र कितना बड़ा है, यह और लोग क्या जानें ? क्या बाहर की यह सारी समृद्धि उसके इस भिक्षापात्र को भर सकेगी ? यह मानवता की कितनी बड़ी पराजय है कि सब अपना-अपना खप्पर उठाए भागे जा रहे हैं किसी अदृश्य दाता की तलाश में ।

एक बार एक राजधानी में एक जादूगर आया । उसने राजधानी के कुएं में एक पुड़िया छोड़ दी और कहा कि अब जो भी इस कुएं का पानी पियेगा,

वह पागल हो जाएगा। राजधानी में दो ही कुएं थे—एक नगर की आम जनता का और दूसरा राजा के महल का। जनता विवश थी। सबको उसी पुड़िया वाले कुएं का पानी पीना पड़ा। कोई प्यासा कब तक रहता। सांभ होते-होते राजधानी के सब लोग पागल हो गए। सिर्फ राजा, उसका वजीर और रानी पागल नहीं हुए, क्योंकि उनका अपना कुआं अलग था। लेकिन सांभ होते-होते एक बहुत बड़ी मुसीबत खड़ी हो गई। शहर के लोगों ने मिलकर सभा की और कहने लगे कि ऐसा मालूम होता है कि राजा का दिमाग खराब हो गया है।

सारे नगरवासियों को राजा का दिमाग खराब लगे, यह बिल्कुल स्वाभाविक था। शहर को पागल कौन कहे—क्योंकि वहाँ तो सभी का एक ही मजमून था। राजा ही उनसे भिन्न दिखता था, इसलिए वही सबको पागल लगता था। लोगों ने कहा : 'राजा को गद्दी से हटाना पड़ेगा।' यह जानकर राजा बहुत धवराया। उसने मंत्री से पूछा—'अब क्या किया जाए?' मंत्री ने कहा—'एक ही उपाय है कि हम भी उसी कुएं का पानी पी लें।' और वे भाग चले उस कुएं का पानी पीने को। क्योंकि जनता पागल हो चुकी थी और उत्तेजित थी, इसलिए कुछ भी देर हो जाती तो अनर्थ हो सकता था। राजा, रानी और वजीर ने भी उस कुएं का पानी पिया। उस रात राजधानी के निवासियों ने रातभर जश्न मनाया, खूब नाचे, गाये और भगवान् को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया कि हमारे राजा का दिमाग ठीक हो गया।

आज अगर क्राइस्ट (या गांधी) आ जाएं और कक्षा में सबसे अन्त में खड़े छात्र को धन्य-धन्य कहने लगे तो लोग उन्हें पागल कहेंगे। मनुष्य अपने अहं को चरितार्थ करने के लिए औरों से आगे बढ़ना चाहता है और इस आगे बढ़ने की हविश में वह जीवन भर अष्ट से अष्टतर होता जाता है। फिर वह न सोता है, न जागता है, बस आंख बंद करके दौड़ता ही रहता है। क्या यह अन्वी दौड़ ही सफलता की कसौटी है?

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—

चातक खोले चोंच खड़ा है सम्पुट खोले सीप खड़ी,
हम अपना घट लिये खड़े हैं सबको अपनी-अपनी पड़ी।

राजनीतिक मृत्युभोज !

अभी-अभी तिरुचिरापल्ली से एक मित्र का व्यक्तिगत पत्र आया है। लिखा है—‘११ नवम्बर की बात है। अचानक कावेरी में जल बढ़ना शुरू हुआ। उसे देखने के लिए पुल पर तमाशाइयों की भीड़ लग गई, भयंकर भीड़। पर जब तक तमाशा देख कर लौटते कि पुल के दोनों ओर भी तटों को तोड़कर पानी भर गया। लोग घर जाना ही भूल गए। पानी लगातार बढ़ता जा रहा था। मौत सामने खड़ी थी।

‘आलीशान मकान देखते-देखते ढह गए। गरीबों की भोंपड़ियों का एक तिनका भी नहीं बचा। दो बड़ी बस्तियाँ हैं—उनमें १०-१२ फुट तक पानी भर आया। इन दोनों बस्तियों में अमीरों के घरों के फ्रिज, रेडियो, टेलि-विजन, रेडियोग्राम और पलंग-मेज-कुर्सी सब पानी में वहे जा रहे थे और उन्हें कोई उठाने वाला नहीं था। कावेरी की प्रचण्ड धारा में गाय-भैंस आदि पशुओं के और नर-नारियों के शव वहे जा रहे थे। अमीर लोग अपने घरों की छतों पर बैठे और गरीब लोग अपना सामान अपने सिरों पर लादे मृत्यु की विभीषिका की प्रतीक्षा कर रहे थे। लगातार बीस दिन तक वारिश और यह भयंकर तूफान ! पता नहीं, कितने लोग मर गए, कितने बच्चे अनाथ हो गए ! धन की दृष्टि से कितने लाखों या करोड़ों रुपये की क्षति हुई है, इसका कुछ अन्दाज नहीं है। कितने लोग बिल्कुल बरबाद हो गए, इसकी भी कुछ गणना नहीं है।’

तमिलनाडु के तट से जो तूफान प्रारम्भ हुआ, वह नहीं सका। बल्कि वहाँ से वह केरल की ओर बढ़ा और वहाँ अपनी विनाश-लीला का ताण्डव करते हुए अन्त में आन्ध्रप्रदेश के तट पर तो उसने सभी सीमाएँ पार कर दीं।

तमिलनाडु में सरकारी स्तर पर मरने वालों की संख्या केवल ५०० से अधिक बताई गई, केरल में भी शायद वह संख्या चार अंकों तक नहीं पहुंचपाई, पर आन्ध्र में तो वह संख्या न केवल पांच अंकों को पार कर गई, प्रत्युत सरकारी अनुमानों के अनुसार वह संख्या छह अंकों तक पहुंच गई।

अभी तक हम नदियों की बाढ़ से हुए विनाश से परिचित रहे हैं, पर जब समुद्र—जिसके लिए कहा जाता है कि वह कभी मर्यादा का उलंघन नहीं करता—स्वयं मर्यादा का उलंघन कर बैठे, तब क्या हो ? जल को जीवन कहा गया है। अमरकोशकार ने 'जीवनं भुवनं वनम्' कह कर जीवन को जल का पर्यायवाची माना है। पर जल मृत्यु का पर्यायवाची भी बन सकता है, यह इस भयंकर प्राकृतिक घटना से पता लगता है।

कहते हैं कि सृष्टि के शुरू में सर्वत्र जल ही जल था—आज की पृथ्वी के दो-तिहाई भाग पर जल का ही साम्राज्य है। क्या भविष्य में जब कभी प्रलय आएगी, तब जल के माध्यम से ही आएगी ? इस सृष्टि का संहार करने की इच्छा जिस दिन उस प्रलयंकर शिवशंकर रुद्र महादेव के मन में पैदा होगी, उस दिन शायद उसे और कुछ करने की आवश्यकता नहीं होगी, वह केवल समुद्र को इंगित कर देगा और उसके आज्ञानुवर्ती हो समुद्र आनन-फानन में प्रलय करके दिखा देगे।

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने बंगाल की खाड़ी को 'महोदधि' और अरब सागर को 'रत्नाकर' का नाम दिया था। बंग सागर और अरब सागर एक तरह से हिन्द महासागर की दाईं और बाईं भुजा है। पर ये दोनों भुजाएँ आजकल जितनी खतरनाक बन गई हैं, पता नहीं इतिहास के किसी काल में ये उतनी खतरनाक रहीं है या नहीं। बीस फुट ऊँची, दस मील चौड़ी और पचास मील लम्बी पानी की दीवार जब महाविनाश का हर-हर नाद करती हुई, एक सौ पचास मील प्रति घंटे के वेग से, चर-अचर सब को उदरसात करती, अंधाधुन्ध बढ़ती चली जाए, तब उससे कोई कैसे बच सकता है ?

पर इस प्रलय-ताण्डव में एक अद्भुत घटना घटी। जब वैज्ञानिकों की एक टोली आन्ध्रप्रदेश के दिवी तालुके में इस भयंकर चक्रवात और तूफान के

विनाश का अध्ययन करने गई, तब विकराल काल का ग्रास बनने से बचे मछियारों ने और ग्रामवासियों ने उस टोली को बताया कि वह तूफानी लहर जब सुरसा की तरह मुँह फाड़े सब कुछ लीलती चली आ रही थी, तब उन्होंने समुद्र में आग-सी लगी देखी थी। इस आग की लाल-लाल ज्वालाएँ समुद्र की लहरों में से उछली पड़ती थीं और वह भयंकर चक्रवातीय मीलों लम्बी लहर तभी शान्त हुई जब समुद्र में वह अग्नि प्रकट हुई।

अभी तक समुद्र में बड़वाग्नि की बात सुनी थी। कहते हैं कि समुद्र के अन्दर एक पुराण-कल्पित घोड़ी है जिसके मुँह से आग की लपटें निकलती रहती हैं और समुद्र में होने वाली आन्तरिक हलचलों का कारण वही घोड़ी है। पर वैज्ञानिक तो मिथकों में विश्वास नहीं करते। उन्हें तो कोई न कोई विज्ञान-सम्मत और बुद्धि-संगत हल ढूँढ़ना ही था। तब केन्द्रीय विज्ञान और तकनीकी मंत्रालय के श्री कृष्णन ने एक समाधान बताया। उन्होंने कहा— 'जब इस प्रकार के प्रबल वेग के चक्रवातों से ऊर्जा निस्सृत होती है तो वह २०० उद्‌जन बलों के विस्फोट से उत्पन्न ऊर्जा के बराबर होती है। हो सकता है कि इस प्रकार डेढ़ सौ मील प्रति घंटे के वेग से चलने वाला चक्रवात घुम्नरघेरी-सी करता हुआ चक्कर काटने लगे और उससे उत्पन्न ऊर्जा से पानी फटकर आक्सीजन और हाइड्रोजन गैसों में परिवर्तित हो जाए। वैज्ञानिक लोग अपनी प्रयोगशालाओं में बहुत छोटे स्तर पर इस प्रकार के परीक्षण करते ही हैं। हो सकता है कि अपनी ताण्डव-लीला में उस रुद्र ने समुद्र को ही अपनी प्रयोगशाला चुना हो। वहरहाल यह खोज का विषय तो है ही।

तभी वैज्ञानिकों की उस टोली के साथ विद्यमान राज्य सरकार के एक अफसर ने सन् १८६४ में घटी एक घटना का उल्लेख किया जब मछलीपत्तनम में इसी प्रकार का तूफान आया था। उस समय भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य था और कम्पनी के अभिलेखों में वह घटना दर्ज है। उस दैवीय दुर्विप्लव में उस समय तीस हजार लोग मरे थे। मछलीपत्तनम में उस भयंकर घटना का एक स्मारक खड़ा भी किया गया था जो प्रकृति के रौद्र रूप के समक्ष मानव की अकिंचनता और विवशता की कहानी कहता है।

यों नवम्बर का सारा महीना ही बड़ा अनर्थकारी सिद्ध हुआ है। दो नवम्बर को ही अहमदाबाद में विषैली शराब के कारण बीस व्यक्ति जान से

हाथ धो बैठे। फिर चार नवम्बर को जोरहाट के निकट विमान भूमि से टकरा गया जिसमें चालक दल के पाँच सदस्यों ने अपने प्राणों की बलि दे दी। फिर ६ नवम्बर को खुर्जा के निकट रेल-दुर्घटना हो गई जिसमें ११ आदमी मारे गए। मुरादाबाद के निकट ७ नवम्बर को रेलगाड़ी पटरी से उतर गई। फिर तमिलनाडु में तूफान आया जिसमें ५०० आदमी मर गए। उसके बाद केरल में तूफान आया। फिर आन्ध्रप्रदेश में तूफान आया। सर-हिन्द में बस-दुर्घटना हो गई। मुर्तजापुर के पास रेल पटरी से उतर गई। फिर रिवाड़ी के पास बहु-चर्चित रेल-दुर्घटना हुई जिसमें बीस व्यक्ति मारे गए। फिर खन्ना जंक्शन पर रेल-भिड़न्त हो गई जिसमें १६ घायल हो गए। फिर अटगांव के पास रेल पत्थर से टकरा कर पटरी से उतर गई। फिर आकाशवाणी भवन में आग लग गई। इस प्रकार गत एक मास में प्राकृतिक और अप्राकृतिक १७ दुर्घटनाएं घटी हैं।

पर नवम्बर में ही एक और दुर्घटना भी घटी है जिसकी ओर दुर्घटना के गणकों ने संकेत नहीं किया। वह दुर्घटना यह है—बरसाना क्षेत्र के कमई गांव में ६५ गाँवों के लगभग एक लाख लोगों को सामुहिक भोज के लिए आमंत्रित किया गया। इस भोज के लिए ७०० मन गेहूँ, २५० मन गुड़ तथा ३०० कनस्तर घी का प्रबन्ध किया गया। गेहूँ पीसने के लिए भोज के स्थान के निकट ही विशेष रूप से एक यन्त्रचालित चक्की लगाई गई तथा पानी के लिए एक नलकूप तथा विशाल पक्के हौज का निर्माण कराया गया। भोज में शामिल लोगों को मालपुए खिलाने के लिए २२ बड़े तवे तथा ७ बड़ी कड़ाहियों का प्रबन्ध किया गया। यह आयोजन गाँव के एक प्रसिद्ध पहलवान ने अपने दिवंगत पिता की स्मृति में किया था।

जब देश का काफी बड़ा भाग भयंकर तूफान के सालों तक न मिटने वाले धावों से कराह रहा हो, तब इस प्रकार के विशाल मृत्यु-भोज का आयोजन क्या किसी रोमांचकारी दुर्घटना से कम है?

पर नहीं, यह मृत्युभोज भी कुछ नहीं है। इससे भी बड़ा एक मृत्युभोज चल रहा है स्वयं आन्ध्रप्रदेश और कर्नाटक में—जहाँ इतना हृदयवेधी विनाश हुआ है, किन्तु वहाँ के राजनीतिज्ञ इस महाविनाश के भयंकर अग्निकांड में भी अपनी राजनीति की बाटियाँ सेकने में लगे हुए हैं।

यह राजनीतिक मृत्युभोज कितनी भयंकर दुर्घटना है।

मरणोत्तर जीवन

जीवन और मृत्यु में से महान कौन है ? यह प्रश्न कुछ कुछ वैसा ही है, जैसे कोई कहे कि दिन और रात में से कौन सुन्दर है ? यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि मुर्गी पहले हुई या अण्डा, या बीज पहले हुआ या वृक्ष । वह तो दार्शनिकों के मस्तिष्क की खुजली मिटाने वाला चिरन्तन प्रश्न है ही । पर जीवन और मृत्यु में से महानता का सेहरा किसके सहारे बाँधा जाए, यह अपने आप में एक अलग ढंग का प्रश्न है । अलग ढंग का इसलिए कि जीवन की प्रशस्ति के अम्बार लगे हुए हैं, और मृत्यु को कोई कसूर की चादर से भले ही लपेट दे, किन्तु उसे महान कहने की इच्छा किसी की नहीं होती ।

जीवन चाहे जितना महान हो, पर मृत्यु जीवन से कहीं अधिक महान है, क्योंकि आज तक जीवन ने यदि किसी चीज से हार मानी है तो केवल मृत्यु से, इसलिए अपनी महानता में जीवन जितना आगे बढ़ता जाता है, मृत्यु उससे सदा दो कदम आगे रहती है । गीताकार ने जीवन और मृत्यु की इस पहेली को अपने अद्भुत तत्वमीमांसीय ढंग से सुलझाते हुए कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्मेव तत्र का परिदेवना ॥

—प्राणियों का आदि अव्यक्त है और प्राणियों का अन्त भी अव्यक्त है, केवल मध्य ही व्यक्त है । इस प्रकार जीवन का जब दो-तिहाई अव्यक्त है और सिर्फ एक तिहाई व्यक्त है, तब व्यक्त के पुनः अव्यक्त में लीन हो जाने पर अर्थात् मृत्यु हो जाने पर रोना-पीटना कैसा ? वह तो जीवन की स्वाभाविक गति है । एक तरह से यह कहना चाहिए कि जन्म न जीवन की शुरुआत है,

न मृत्यु जीवन का अन्त, प्रत्युत जीवन की एक अनन्त डोर है जिसके जन्म और मृत्यु नामक दो सिरे हैं।

मुख्य बात यह है कि जीवन की महानता और सुन्दरता प्रत्यक्ष दिखाई देती है, पर मृत्यु का सौन्दर्य ? उसे देखने के लिए सन्तों की आंख चाहिए। यों भी शास्त्रज्ञों ने 'परोक्षप्रिया हि देवाः' कहकर परोक्ष को प्रत्यक्ष से अधिक महत्व दिया है। सन्त-जन कहा करते हैं—

जिस मरने से जग डरे

मेरे मन आनन्द।

मरने ही से पाइए

पूरण परमानन्द ॥

'पूरण परमानन्द' कहाँ, यहां तो मृत्यु के नाम से ही बिग्नी बंध जाती है। मरने वाले की ही नहीं, मरने वाले के निकट सम्बन्धियों की भी।

विवाह के समय कन्या के सब सम्बन्धी उसे आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—
वा ते शृहेषु निशि घोष उत्थाद् मन्यत्र त्वद् रुदत्यः संविशन्तु।

—निशीथ में किसी की आकस्मिक मृत्यु से तेरे घर में कोलाहल न मचे और स्थापा करने वाली औरतें तेरे घर से सदा दूर रहें। पर ऐसा कौन सा घर है, जहां कभी कोई मौत न हुई हो। जन्म है, तो मृत्यु भी अवश्यम्भावी है, उससे वचा नहीं जा सकता।

यों मृत्यु को सब चिन्ताओं का विश्राम-स्थल माना जाता है, पर मरने के बाद भी सबकी सद्गति थोड़े ही होती है। आंखों से ओझल हो जाने वाले की सद्गति बहुतों को नहीं सुहाती। शायद इसके मूल में अपनी मरणोत्तर दुर्गति की आशंका रही हो। वास्तव में, बहुतों की मृत्यु भी ईर्ष्या का विषय बन जाती है—लोग सोचते हैं कि काश ! हमें भी ऐसी मौत मिलती ! पर जिन महापुरुषों की विशाल शव-यात्राओं को देखकर लोग उनकी मृत्यु से ईर्ष्या करने लगते हैं, कभी-कभी इतिहास में ऐसे भी क्षण आते हैं जब शवों का विशाल आडम्बरो से पूर्ण राजसी सम्मान भी ईर्ष्या की वस्तु नहीं रह जाता। मिश्र के जिन राजाओं ने अपने शवों के लिए संसार के आश्चर्य-भूत पिरामिडों का निर्माण कराया और उनके अन्दर अकृत सम्पत्ति भी साथ

ही दफन करवाई, आज उनकी मृत्यु शायद किसी के लिए भी ईर्ष्या की वस्तु नहीं होगी।

इतना ही क्यों, जनता की भावना बदलने पर शवों को कब्रों में से उखाड़कर उनके साथ अपनी भावना के अनुरूप आचरण करने के उदाहरण भी इतिहास में मिलते ही हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जीवन में महान होना एक बात है, और मृत्यु के बाद महान बने रहना सर्वथा दूसरी। कदाचित इसमें मानव द्वारा महानता के मापदण्डों में समयानुसार परिवर्तन भी कारण हो, इसीलिए तेजस्वी लोग अपने पंच भौतिक शरीर की रक्षा की उतनी चिन्ता नहीं करते, जितनी अपनी यशः काया की रक्षा की चिन्ता करते हैं। यह यशः काया एक तरह से मरणोत्तर जीवन का प्रारम्भ है।

श्रद्धालु जन अपने आराध्य में इतने गुणों का समावेश कर देते हैं कि वह नर से उठकर नारायण की कोटि में पहुँच जाता है। आजकल तो वैसे भी भगवानों का मेला लगा हुआ है। भले ही भगवान एक हो, पर धराधाम पर अनेक भगवान हैं। उनके भक्त अपने-अपने भगवानों के बारे में आलोचना का—भले ही वह कितनी ही तथ्यपरक हो—एक भी शब्द सुनने को तैयार नहीं। आध्यात्मिक मार्ग में जिस प्रकार यह भ्रुड्डम का अन्धवाद चला है, कुछ कुछ वैसा ही अन्धवाद राजनीति के क्षेत्र में भी चलता है।

एक ओर यह अन्धवाद है, दूसरी ओर वह निर्मम इतिहासकार है जो मानव को तो क्या, भगवान को भी भगवान मानने को तैयार नहीं। फिर जब इस निर्ममता में रहस्य-रोमांच का आनन्द और अर्थ-प्राप्ति का संवल साधन जुट जाए तो हुई-अनहुई बातें भी इतिहास को रोचक बनाने के लिए जोड़ दी जाती हैं।

किसी भी राजनैतिक या आभा मण्डल वाले अन्य महापुरुष की मृत्यु के पश्चात् उनके जीवन के छिपे कोनों को उजागर करने में लेखक और पाठक दोनों को आनन्द आता है। अब तक यह प्रवृत्ति पाश्चात्य देशों में ही अधिक थी। एक तरह से पश्चिम में यह प्रवृत्ति पत्रकारिता का अंग ही बन गई थी। कैंनेडी के मरने के बाद था चर्चिल की मृत्यु के पश्चात उनकी सेक्रेट्रियों ने अपने 'वासों' के यौन जीवन के सम्बन्ध में जो रहस्योद्घाटन किए, उनकी खूब चर्चा रही। अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति रिचर्ड रिक्सन के साथ

सम्बद्ध वाटर गेट काण्ड के बारे में अधिकारी व्यक्तियों ने पुस्तकें लिखकर लाखों डालर कमाए। आपातकाल के पश्चात् भारत में भी पश्चिम की नकल पर यह प्रवृत्ति आई, खास तौर से अंग्रेजी के पत्रकारों में कि वे एक के बाद एक पुस्तकें लिखकर अर्थ-प्राप्ति का जैसे सुलभ साधन पा गए। ऐसा लेखन 'आधी के ग्राम' बन गया।

हाल में ही महात्मा गांधी और पं० जवाहर लाल नेहरू पर भी ऐसी पुस्तकें निकली हैं। उन पुस्तकों में वर्णित तथ्यों को चुनौती देने की नहीं, उन पर प्रतिबन्ध की मांग है। आजकल की पत्र-पत्रिकाएं भी इस प्रकार के रस से सराबोर हैं। जिन बातों को पहले कभी शिष्ट समाज में चर्चा के अयोग्य समझा जाता था आजकल वे ही बातें शिष्ट-समाज की चर्चा का मुख्य विषय बनती जा रही हैं। पाश्चात्य संस्कृति व्यक्तिगत जीवन को सामाजिक जीवन से अलग रखती है, पर भारतीय संस्कृति में यह द्वैध नहीं है। फिर सार्वजनिक व्यक्ति ? क्या उसका भी कोई निजी जीवन होता है जिसे समाज से छिपाने की आवश्यकता हो ?

कुछ भी हो, यदि किसी साहित्य में अशिव को प्रश्रय मिलता हो, तो उसे साहित्यिकों का आदर नहीं मिलना चाहिए। संस्कृत का एक श्लोक याद आ रहा है—

कस्त्वं भद्र खलेश्वरोमिह कि घोरे वने स्थीयते
शार्दूलादिभिरेव हिंसु पशुभिः खाद्योऽहममित्याशया ।
कस्मात्कष्टमिदं त्वया व्यवसितं मद्देहमांसाशिनः

प्रयुत्पन्न नृमांसभक्षणधियः ते ध्वन्तु सर्वान्नरान् ॥

—‘भद्र ! आप कौन हैं ?’ ‘मैं दुर्जनों का राजा हूँ। आप यहां इस घनघोर जंगल में कैसे पड़े हैं ?’ इस आशा से कि शेर-चीते आदि हिंसक जन्तु नुफे खा जाएं।’ उससे आपको क्या लाभ मिलेगा ? ‘मेरा मांस खाकर उन हिंसक जन्तुओं की मनुष्य का मांस खाने की चाट पड़ जाएगी और वे संसार के सब सज्जनों को चट कर जाएंगे।’

अवमूल्यन जीवन-मूल्यों का

बात सन १८९१ की है। अमरीका में विश्वधर्म सम्मेलन हुआ और उसमें संसार के विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। उन में से एक स्वामी विवेकानन्द भी थे। उस सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द की ओजस्वी वाणी और भव्य व्यक्तित्व ने जैसे सब पर जादू कर दिया। जहाँ देखो, इसी भारतीय साधु की चर्चा। दर्शनार्थियों की भीड़। भारतीय आध्यात्मिकता का बखान। चर्चा उस समय के करोड़पति जान डी. राकफेलर तक भी पहुँची। मित्रों ने स्वामी जी के दर्शन का आग्रह किया, पर राकफेलर तैयार नहीं हुआ। साधु-सन्त्यासियों का चक्कर उसे पसन्द नहीं था।

न जाने उसके मन में क्या आया कि एक दिन बिना किसी को बताए चुपचाप शिकागो के एक उपनगर में स्वामी जी से भेंट करने चल दिया। प्रथम साक्षात्कार में ही स्वामी विवेकानन्द ने राकफेलर को उसके पूर्व-जीवन की कुछ ऐसी बातें बताईं जो सिवाय राकफेलर के और किसी को ज्ञात नहीं थीं। राकफेलर को आश्चर्य हुआ। अन्त में जब स्वामी जी ने उस अरवपति से कहा कि जो धन जनता के कष्टों के निवारण में प्रयुक्त नहीं होता, वह धन व्यर्थ है, तो राकफेलर को अच्छा नहीं लगा। किस पूँजीपति को ऐसी बात अच्छी लगती है? राकफेलर मन में कुछ म्लानता लिये लौट आया।

पर उसके एक सप्ताह बाद ही उसके मन में अकस्मात् न जाने कौन सी आन्तरिक प्रेरणा पैदा हुई कि वह पहले की तरह बिना किसी को बताए फिर स्वामी जी के पास पहुँचा और उनके सामने एक कागज रखते हुए बोला—‘अब तो आप प्रसन्न होंगे और मुझे धन्यवाद देंगे न?’

स्वामी जी ने बिना आँख ऊपर उठाए उस कागज पर सरसरी निगाह डाली और देखा कि राकफेलर ने अपने अधिकांश धन को जन-हित में लगाने

के लिए एक पूरी योजना उस कागज पर लिखी हुई है। स्वामी जी ने अपनी आंखें ऊपर कीं और कहा—‘हां मैं प्रसन्न हूँ, पर धन्यवाद तो आप मुझे देंगे कि मैंने सुख-प्राप्ति का सच्चा साधन आपको बता दिया। जो धन केवल अपने ऊपर खर्च होता है, वह कभी सुखकारक नहीं होता। जनहित में खर्च किया गया धन ही सार्थक होता है।’

राकफेलर को एक नई दृष्टि मिली। उसने राकफेलर फाउंडेशन की स्थापना की जिसका उद्देश्य था समस्त विश्व में अज्ञान और अभाव के कष्ट को दूर करने के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान और उसके फलों को क्रियान्वित करने के लिए सक्रिय सहायता। देश-विदेश में ‘निरक्षरता-निवारण, चिकित्सा सहायता, कृषि सम्बन्धी नई खोजों द्वारा हरित क्रांति का श्रीगणेश और विभिन्न विषयों के अग्रिम अध्ययन के लिए अनेक छात्रवृत्तियां—उसी फाउंडेशन की स्थापना का परिणाम है कि एक भारतीय साधु ने एक अमरीकी वनपति को परोपकार-परायणता का ऐसा पाठ पढ़ाया जिससे उसका धन और जीवन तो सार्थक हो ही गया, बहुतां के अन्धकार-पूर्ण जीवन में रोशनी की किरण भी पहुँच गई।

महाकवि भर्तृहरि ने लिखा है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो
गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते
तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

धन की तीन ही गतियां होती हैं—दान, भोग और नाश। जो न देता है, न भोग करता है, उसके धन की तीसरी गति (नाश) तो अवश्यम्भावी है।

महात्मा गांधी भी यही कहा करते थे—धन का होना बुरा नहीं है, पर उसका दुरुपयोग बुरा है, इसीलिए वे प्रत्येक धनपति को जनता के धन का ट्रस्टी मानते थे, मालिक नहीं। लक्ष्मी तो चंचला है। अपनी आगामी पीढ़ियों के लिए धन-संचय करके रख जाना एक खानखयाली के सिवाय और कुछ नहीं। कहावत है—

पूत सपूत तो क्यों धन संचै ।

पूत कपूत तो क्यों धन संचै ॥

पर दुनियां है कि धन के पीछे दीवानी है। गांधी-युग की एक विशेषता थी कि उस समय के धनपति भी आडम्बरविहीन सादा जीवन बिताने में अपनी शान समझते थे, पर आज के युग का फैशन दूसरा है। आज गरीब भी अमीरों की तरह रहने में शान समझते हैं। बाह्य आडम्बर की प्रबलता आन्तरिक सत्त्वहीनता की निशानी है। 'थोथा चना वाजे धना'—वाली बात है। इस बाहरी चकाचौंध ने ही मानवीय जीवन के उदात्त गुणों का अव-भूलन कर दिया है और समाज में ईर्ष्या-द्वेष और हिंसा को इस हद तक बढ़ा दिया है कि राजनीति के तटस्थ पर्यवेक्षकों को भी चारों ओर अराजकता के लक्षण नजर आते हैं।

अकबर के समकालीन ईरान के शाह अब्बास ने अकबर को अनेक उपहार भेजे। उन उपहारों को लेकर जब राजदूत दरबार में हाजिर हुआ तो उसने शाह अब्बास की चिट्ठी भी साथ में पेश की। इस चिट्ठी में ईरान के सर्व-श्रेष्ठ कवि मुल्ला वाहिद की एक कविता भी थी, जो इस प्रकार थी—

जंगी वे सिपाही खेलो लश्कर नाजद
रुमी वे सिनानो तेगो खंजर नाजद ।
अकबर ने खजीना पुर अज जर नाजद
अब्बास वे जुल्फकारे हैदर नाजद ॥

जंगी को अपने सिपाहियों, घोड़ों और पदाति सैनिकों पर नाज है, रुमी को अपने भाले तलवार और खंजर पर नाज है, अकबर को अपने वन से भरे खजाने पर नाज है किन्तु अब्बास को केवल अली की तलवार पर नाज है।

अकबर के दरबारियों को लगा कि मुल्ला वाहिद ने अपनी कविता में सूक्ष्म व्यंग किया है और हिन्द के शहंशाह जलालुद्दीन अकबर को अन्य इस्लामी देशों की तुलना में निकृष्ट सिद्ध किया है—भला शूरवीरता के युग में धन-दौलत भी कोई गर्व की चीज थी। तब अबुल फजल के बड़े भाई फैजी ने अपनी प्रत्युत्पन्नमति का परिचय देते हुए, अपने नवरत्नों के लिए प्रसिद्ध अकबर के दरबार को इस अपमान-जनक स्थिति से उबारने के लिए, वाहिद की कविता का जवाब यों दिया—

फिरदौस वे सल सबीलो काँसर नाजद
 दरिया वे गुहर फलक वे अख्तर नाजद ।
 अब्बास ने जुल्फिकारे हैदर नाजद
 कोनैन वे जाते पाके अकबर नाजद ॥

स्वर्ग को अपनी दूध और शहद की नहरों पर नाज है, समुद्र को अपने मोतियों पर नाज है, आकाश को अपने सितारों पर नाज है, अब्बास को अली की तेग पर नाज है, परन्तु दोनों लोकों को अकबर के दिल की पाकीजगी (पवित्रता) पर नाज है ।

उस युग में कवियों की आपस में जो नोकझोंक चलती थी, उसमें फैजी ने शाह अब्बास के कवीश्वर की उक्ति का अक्षरशः अनुमोदन तो किया परन्तु समस्यापूर्ति इस ढंग से की कि अकबर का दर्जा औरों से बुलन्द हो गया और बाहिद के उक्ति-चातुर्य पर भी पानी फिर गया ।

पर यहाँ प्रश्न उक्ति-चातुर्य का नहीं जीवन-मूल्यों का है । अपनी संस्कृति को औरों से श्रेष्ठ बताना, पर साथ ही जिन संस्कृतियों को हम हीन बताते हैं, आँख-कान बन्द करके उन्हीं का अनुगमन करना—यह कौनसा जीवन-मूल्य है ? स्वामी विवेकानन्द की जितनी ज़रूरत अमरीका या राकफेलर को थी, उससे कहीं ज्यादा ज़रूरत अपने को और अगनों को है ।

काल और कालपात्र

— हिरी ११ वे दर्ल ३१२ —

आजकल संसार में अरब के शेखों की धूम है। अपनी सम्पदा की बदीलत उनके पास जो नई समृद्धि आई है उसने सबकी आँखों में चकाचौंध पैदा कर दी है। एक उदाहरण देखिए—

एक अरब का शेख अपनी चमचमाती नीली शानदार कैंडलक कार में जब वाशिंगटन के सीनेट आफिस में पहुँचा तो वन्दूकों ताने पहरेदारों की भी उस कार को रोकने की हिम्मत न हुई। कार दरवाजे के पार सीधी वहाँ पहुँच गई जहाँ अमेरिका के सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिज्ञ कार्यरत रहते हैं। ज्यों ही कार रुकी, एक अफसर ने आगे बढ़कर दरवाजा खोला। अन्दर से अपना शानदार चोगा लहराते और अपने कीमती शिरोवेष्टन से रौब बिखेरते हलात-अल-मुड़ी के शेख औंधा वीरन निकले और अगले दो घण्टे तक एक के बाद एक प्रमुख सीनेटर्स से वार्तालाप करते रहे। किसी ने उन्हें अपने साथ लंच के लिए आमंत्रित किया, किसी ने बड़े शीक से उनके साथ फोटो खिंचवाई और किसी ने उन्हें अमरीका में आकर एक सप्ताह तक रहने के लिए आमंत्रित किया।

शेख मन ही मन इन सब का मजा लेता रहा, क्योंकि वास्तव में न तो संसार के नक्शे में कहीं हलात-अल मुड़ी नामक कोई प्रदेश है और न ही वीरन औंधा नाम के किसी व्यक्ति का कहीं अस्तित्व है। शानदार चोगा पहन कर वीरन औंधा बनकर आने वाला यह व्यक्ति और कोई नहीं, एक सामान्य लेखक था, जिसने कुछ ही दिन पहले फ्लोरिडा की एक मधुशाला में अपने दोस्तों से यह शर्त रखी थी कि वह उन लोगों को भी बेवकूफ बना सकता है जो अमरीका पर शासन करते हैं।

इस व्यक्ति का असली नाम था—ब्रियान होगन—उम्र थी २८ साल । अपनी शर्त पूरी करने के लिए उसने रेडीमेड कपड़ों की दुकान से ५० डालर में एक अरबी चोगा खरीदा, २० डालर प्रति दिन के हिसाब से एक कैंडलक कार किराये पर ली और अपने एक मित्र को रौबीला बिजनेस सूट पहनाकर अपने सहायक-सचिव के रूप में साथ ले लिया । उसने सुनहरी किनारों वाले, हाथ लिखे, आठ-दस विजिटिंग कार्ड लिये और सीधा अमरीका के संसद भवन में पहुंच गया । एक बहुत बड़े सीनेटर ने शेख के साथ तेल के आयात के बारे में वार्तालाप किया और अस्तित्वहीन हलात अल-मूडी के निवासियों के लिए इस वार्ता को टेप रिकार्ड करने की इच्छा व्यक्त की । उसने बाद में अन्य सीनेटरों से भी गम्भीरतापूर्वक कहा कि मैंने अरब देशों के साथ अमरीका के सम्बन्धों को और सुदृढ़ करने के लिए आज एक महत्वपूर्ण काम किया है । उसकी इस गम्भीरता को देखकर ब्रियान होगन को नकली दाढ़ी में भी अपनी हंसी छुपाना कठिन हो गया । उसके बाद होगन अन्तर्राष्ट्रीय तेल आयांग के अध्यक्ष से भी मिला और उसने भी तेल आयात के बारे में खूब दिलचस्पी दिखाई ।

बाद में जब राष्ट्रपति कार्टर को यह सब किस्सा मालूम हुआ कि किस प्रकार अमरीकी सीनेटर बेवकूफ बने, तब उन्हें दिल में कोई खुशी नहीं हुई । उन्हें यही लगा कि संसार के सबसे अधिक चतुर और व्यवहार-कुशल समझे जाने वाले अमरीकी सीनेटर भी कितनी आसानी से छले जा सकते हैं । नहीं कह सकते कि यदि श्री होगन इसी प्रकार अरब के शेख बनकर हमारी लोक-सभा में आते तो क्या होता ?

क्या काल भी कोई ब्रियान होगन है जो कभी अरब का शेख बनकर और कभी कुछ और बनकर संसार के प्राणियों को छलता रहता है ? हो सकता है, यह छलना न हो, काल की अपनी ही स्वाभाविक गति हो और सांसारिक प्राणी उसे छल समझते रहते हों ।

दार्शनिक दृष्टि से काल के अस्तित्व पर विचार करने वाले तो अपने तर्क कुठार से उसकी बखिया भी उधेड़ देते हैं । तर्क का काम ही काटना है । कभी-कभी किसी कवि की वाणी में भी जब यह दार्शनिकता घुसपैठ कर बैठती है, तब वह कविवर बचन की तरह कह उठता है—

भूत केवल कल्पना है, औ भविष्यत् जल्पना है,
वर्तमान लकोर भ्रम की—और है चौथी शरण भी ?

जब भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों ही नहीं रहे तो बिचारा काल कहाँ निवास करे ? //

दूसरी ओर वैज्ञानिक लोग द्रव्य कहते ही उसको हैं जो किसी न किसी काल में हो और किसी न किसी देश में हो । देश और काल से अवच्छिन्न हुए बिना पदार्थ की गति नहीं । लगता है कि सबसे बड़ी उपाधि—या वेदान्तियों की माया—यह देश और काल ही है जो किसी भी पदार्थ के जन्मते ही उसे दोनों ओर से घेर लेते हैं और उसके अस्तित्व का प्रमाण बनते हैं । परमात्मा को जिन्होंने देश और काल से अनवच्छिन्न (दिवकालाद्यनवच्छिन्नः—भर्तृहरि) बताया है, वे यही तो कहना चाहते हैं कि परमात्मा अपदार्थ है । अपदार्थ—याने न कुछ—याने कुछ भी नहीं । ‘अपदार्थ’ का ऐसा अर्थ करना तो ऐसा ही है जैसे ‘अमूल्य’ का अर्थ मूल्य-हीन करना । पर संसार की सारी सम्प्रदा से भी जिसका मूल्य न चुकाया जा सके उस अति-अति-अति मूल्यवान को भी ‘अमूल्य’ के सिवाय और क्या कहेंगे ?

वात छलिया काल की चल रही थी । भर्तृहरि ने लिखा है—

इत्थं चेमौ रजनिदिवसौ दोन्यन् द्वाविवाक्षौ,

कालः काल्या भुवनफलके, क्रीडति प्राणिशारैः ।

काल देवता देवी काली के साथ इस संसार रूपी चौपड़ पर दिन और रात को पासा बनाकर प्राणियों की गोटों से शतरंज खेल रहे हैं । सारा संसार महाकाल और महाकाली के लीला-विलास के सिवाय और क्या है ?

यों काल संस्कृत की जिस धातु से बनता है उसका अर्थ है—गणना करना । काल एक-एक करके संसार के समस्त चर और अचर की जीवन-लीला के दिनों और पलों की गणना करता रहता है । तभी तो जिसका काल नजदीक दिखाई देता है उसके लिए कहा जाता है—उसके तो अब गिने-चुने दिन हैं । इस काल की सर्वग्रासी प्रवृत्ति को बताने के लिए, इसके विकराल रूप की कल्पना की गई—सारे संसार को इसके वदन में विलीन होता दिखाया गया और इसे मृत्यु तथा यमराज का पर्यायवाची मान लिया गया ।

काल से भला कौन जीत पाया है ? चतुस्रदधिपर्यन्त आदिगन्त इस विशाल वसुन्धरा को अपने प्रताप से कम्पायमान करने वाले महतो महान् प्रतापवानों का भी प्रताप एक दिन कराल काल के विकराल गाल का निवाला बने बिना नहीं रहता । फिर कहाँ का कालपात्र—और कौन उसका सुपात्र या कुपात्र ! सब मन को वहलाने के साधन हैं । पहले कालपात्र गाड़कर भी देख लिया और अब उसे उखाड़ कर भी देख लिया । न तब दुनिया इधर से उधर हुई—न अब दुनिया इधर से उधर हुई । महाकाल की दृष्टि से सभी पात्र क्षण-भंगुर हैं—फिर चाहे वे मिट्टी के हों, चाहे स्टेनलैस स्टील के चाहे प्लाटिनम के । हाँ, इतना हो सकता है कि कोई पात्र जल्दी टूट जाए, और कोई कुछ देर में । पर अनन्त काल की दृष्टि से उसकी गिनती होगी क्षण के अन्दर ही, उससे अधिक नहीं ।

दुनिया के इस शोरोगुल को सुनकर जिगर मुरादावादी की ये पंक्तियाँ याद आती हैं :

इस बज्जे-हकीकत की, हकीकत मैं क्या कहूँ ;

नगमों का तलातुम तो है, आवाज नहीं है ।

यथार्थ की इस महफिल की असलियत मैं क्या बताऊँ—यहाँ गीतों की चहल-पहल तो है, पर आवाज नदारत है ।

कोई बात नहीं ! काल ने जीवन को कितनी ही बार पछाड़ा हो, पर जीवन का जीवन तो देखिए कि आज तक उसने कभी काल से हार नहीं मानी, इसलिए आज तो अब्दुल हमीद 'अदम' की इस उक्ति से प्रसंग को समाप्त करें :

फुसंत के वक्त ढूँढ़ के मिलना कभी अजल ।

मुझको भी काम है, अभी तुझको भी काम है ।

अजल—याने मौत—याने काल ।

प्रकृति और मानव का प्रेमी

‘मैंने बचपन में घरवालों से छिपाकर घरती में कुछ पैसे बोये थे और मैं आशा लगाए था कि इससे पैसों के प्यारे-प्यारे पौधे उगेंगे और मैं देखते ही देखते धन्ना सेठ बन जाऊंगा। पर उस बंजर घरती में एक भी अंकुर न फूटा। मेरे सारे सपने धूल में मिल गए।

‘तब से हहराती हुई अर्धशती बीत गई—न जाने कितने बसन्त, ग्रीष्म, शरद हेमन्त। एक बार कजरारे बादल घरती पर बरसे, तो मैंने कौतूहल-वश आंगन के कोने की गीली तह को अंगुलि से कुरेद कर मिट्टी के नीचे सेम के बीज दबा दिए। फिर मैं इस छोटी-सी घटना को भूल गया। उसमें याद रखने योग्य था भी क्या?’

‘किन्तु एक दिन संध्या के समय मैं अपने आंगन में टहल रहा था कि मैंने अचानक जो दृश्य देखा उससे मैं विस्मय से हर्ष-विमूढ़ हो उठा। देखा कि आंगन में कोई नवागत खड़ा है—छोटी सी छत्री ताने—उसे छत्री कहीं या जीवन की विजय-पताका।—अपनी नन्हीं-प्यारी हथेलियां उल्लास से ऐसे ऊपर उठाए जैसे चिड़ियों के छोटे बच्चे उड़ने को उत्सुक हों।

मैं क्षण भर अपलक देखता रहा। फिर सहसा याद आया कि कुछ दिन पहले मैंने आंगन में सेम के बीज बोए थे और अब उसी के नन्हें अंकुरित पौधों की यह पलटन अपने नन्हे-नाटे पैर पटक मेरी आंखों के सामने गर्व से छाती फुलाएँ परेड करती खड़ी हैं।

तब से मैं बराबर उनको देखता रहा। धीरे-धीरे वे पौधे अनगिनत पत्तों से लद गए—जैसे हरी मखमल के चंदोवे टंग गए हों। बेलें आंगन में बल खाकर बाड़े की टट्टी का सहारा लेकर फैल गईं—जैसे हरे हरे भरने ऊपर

को फूट पड़े हों। मैं देखकर अवाक् रह गया—वंश कैसे बढ़ता है ! मावस में हंसमुख नभ के तारों-से, चोटी के मोती-से, आंचल के बूटों से, छोटे-छोटे फूल खिल उठे।

समय पाकर फलियां फूटीं। लम्बी-लम्बी अंगुलियों-सी, पन्ने के हारों-सी, सच्चे मोती की लड़ियों-सी, ढेर सारी फलियां। जाड़ों भर खाईं, पास-पड़ोस में बंटवाई, मित्रों को खिलाई, मुहल्ले भर ने स्वाद लिया। कितनी सारी फलियां, कितनी प्यारी फलियां !

‘यह धरती माता अपने प्यारे पुत्रों को कितना देती है।’

ऊपर कवेवर सुमित्रानन्दन पंत की ‘यह धरती कितना देती है’ शीर्षक कविता का संक्षिप्त गद्य रूप दिया है। कवि के प्रकृति-प्रेम की यह एक छोटी-सी बानगी है। कली के चटकने और फूल के खिलने की घटना को सृष्टि और सृष्टिकर्ता का अद्भुत कौशल मानने वाला ऐसा प्रकृति प्रेमी कवि दुर्लभ है।

अब कवि के मानव-प्रेम की एक बानगी देखिए—जिसका उल्लेख कवि की भतीजी श्रीमती शान्ति जोशी ने पूरी अन्तरंगता के साथ किया है—

एक दिन यूनिवर्सिटी से आई, देखा घर में ताला पड़ा है। पंत जी पड़ोस के एक घर में बीमार के कमरे से लगे कमरे में बैठे थे। मुझे देखते ही संकेत से पास बुलाया और बताया कि गृहस्वामी यहां बिठा गए हैं। गृहस्वामी दफ्तर से खुद छुट्टी लेना नहीं चाह रहे थे। घर में और कोई था नहीं। वच्चे स्कूल गये थे। रोगी की तबियत ज्यादा खराब थी, उसे अकेले छोड़ना ठीक नहीं। ढाई बजे के करीब वच्चे स्कूल से आ जाएंगे, तब तक के लिए मुझे बिठा गए हैं। अब तुम आ गई हो, तो तुम थोड़ी देर यहां बैठो, मैं इतने जाकर स्नान कर आऊँ।

‘बाद में जब खाना खाने बैठे तब तीन से ऊपर बज चुके थे। मैंने कहा—आपको डाक्टर ने कह रखा है कि दुपहर के १२ बजे तक खाना खा लिया करो। मधुमेह के मरीज हो। रोज इन्सुलीन का टीका लेते हो। देर हो जाने से इन्सुलीन का दुष्प्रभाव हो सकता है। सत्तर बैसे पार कर चुके हो। फिर शरीर दुर्बल है ही।’ तो बोले—‘बात तो तुम्हारी ठीक है। वहां बैठे-बैठे

मेरा सिर घूमने लगा था, और जी धवराने लगा था। वहां से आकर मैंने पहले एक चम्मच चीनी और एक सन्तरा खाया, तब स्नान करने गया। पर पड़ौसी का क्या मैं इतना-सा भी काम न करता !' खाना खाने के बाद बोले—'बेहद थक गया हूँ, खड़ा होने की ताकत नहीं है। पर एक बार जाकर देख आता हूँ कि बीमार की हालत ठीक तो है, तभी लेट पाऊंगा मैं।' कहा भी कि मैं जाकर देख आती हूँ, आप आराम करिए। पर वे नहीं माने—'नहीं, मैं ही जाऊंगा।'।

ऐसे प्रकृति प्रेमी आपको मिल जाएंगे जो मानव से दूर भागते हैं और ऐसे मानव-प्रेमियों की भी कमी नहीं है जिन्हें प्रकृति-प्रेम से कभी कोई वास्ता नहीं रहता। अनेक बुद्धि-जीवी और कलाकार ऐसे भी मिलेंगे जिन्हें न प्रकृति से प्रेम है, न मानव से। उन्हें केवल अपने से प्रेम है और वे सारे संसार का, संसार के प्रत्येक प्राणी का, केवल अपने लिए प्रयोग कर पाने की क्षमता में ही अपने व्यक्तित्व की सत्ता, महत्ता और सार्थकता समझते हैं। राजनीति के क्षेत्र में यही अहंवृत्ति लोकतंत्र का गला घोट कर अधिनायकवाद को जन्म देती है। शायद उन्हें मन ही मन अपने या अपनों के सिवाय शेष सारे संसार से घृणा होती है, भले ही बाहर उनका मुखौटा कितना ही मुस्कान भरा और पर-दुःख-कातर क्यों न दीखे। शायद ऐसे ही लोगों को लक्ष्य कर दाग देहलवी ने कहा है—

उन्हें नफरत है सारे जहां से
कोई नई दुनिया लाएं कहां से ?

बात पंत जी की चल रही थी। एक प्रसंग और याद आया—

३ मार्च, १९७०, दिन के एक बजे थे। पन्त जी घर में नितान्त अकेले। किसी ने दरवाजा खटखटाया। पन्तजी ने तत्काल दरवाजा खोला। एक लम्बा-चौड़ा हूट-पुट व्यक्ति अन्दर आकर कुर्सी पर बैठ गया और छुटते बोला—'मैं मिलिट्री में हूँ। मेरा काम दूसरों का खून करना है। मैं इसी उद्देश्य से यहां आया हूँ और यह कहकर उसने अपनी पतलून की जेब से पिस्तौल निकाली और उसे पन्तजी को दिखाते हुए कहा—'देखते हैं, भरी हुई है।' और पिस्तौल सामने तानकर खड़ा हो गया।

‘पन्तजी सन्न रह गए। यह कौन व्यक्ति है ? क्यों मारने आया है ? मैंने इसका क्या अहित किया है ? पर कोई भी हो, मानव तो है । और मानवता पर आस्था का चिरन्तन स्वर उनके अन्तःकरण में बजने लगा । उन्होंने उस व्यक्ति की आंखों की ओर ध्यान से देखा । फिर अपने आपको ईश्वर की इच्छा पर छोड़कर सर्वात्मना मृत्यु का आलिगन करने को तैयार होकर सुस्थिर चित्त से खड़े हुए, उसकी ओर बढ़े और प्रेम से उसकी पीठ सहलाते हुए बोले—‘तुम बहादुर आदमी हो । तुम्हारा जीवन त्याग और बलिदान का है । देश की रक्षा तुम ही लोग करते हो । अगर मुझे मारने से तुम्हारी दृष्टि में देश का कुछ भला होता हो, तो मुझे मार सकते हो, मैं तुम्हें रोकूंगा नहीं ।’

वह व्यक्ति कदाचित्त अपने सैनिक जीवन की किसी घटना से क्रुद्ध होकर किसी भी बड़े आदमी की हत्या करके अपने मन की उत्तेजना शान्त करना चाहता था । पर जब उसने पन्तजी का यह व्यवहार देखा तो उसकी पिस्तौल नीचे झुक गई । बोला—‘आप पहले व्यक्ति हैं जिसने मुझे इतना स्नेह दिया है । मैं भला आपको कैसे मार सकता हूँ । आप तो मेरे पिता के तुल्य हैं ।’

उसकी आंखों से भर-भर आंसू भरने लगे । रोते-रोते पन्तजी के पांव पकड़कर बोला—‘मुझे क्षमा करें । मैं भटक गया था ।’ पन्तजी ने उसे गले लगाया और स्वयं उसे फाटक तक छोड़ने आए ।

प्रकृति और मानव से समान रूप से प्रेम करने वाला वह कवि नए युग की आशा में नव वर्ष का स्वागत करने को उसके आगमन से पहले ही अमर लोक पहुँच गया—

अन्तर्मुख हो गई चेतना दिव्य अनामय ।

मानस लहरों पर शतदल सी हंस ज्योतिर्मय ।

देवदत्त और हंस

निस्सीम आकाश में अपने पंखों को फैलाये हंस उड़ा जा रहा था सपनों में खोया—कि नीचे से किसी बहेलिये का तीर आकर लगा और हंस धरती पर गिर पड़ा ।

अकस्मात् उधर से गुजर रहा था सिद्धार्थ । उसने लहू-लुहान हंस को देखा तो उसका हृदय द्रवित हो उठा । सिद्धार्थ का कोमल हृदय, उसे लगा कि यह वाण हंस को नहीं, मुझे लगा है । उसने नीचे झुक कर हंस को उठा लिया—कितना सुन्दर पक्षी ! उसे छाती से लगाया, प्यार से सहलाया और सोचने लगा कि किस तरह इसकी मरहम-पट्टी करूं !

इतने में ही आ गया देवदत्त । उसने कहा—‘सिद्धार्थ ! इस हंस को छोड़ दो, यह मेरा है ।’ सिद्धार्थ ने पूछा—‘तुम्हारा कैसे ?’ देवदत्त ने कहा—‘इसे मैंने ही तो अपने वाण से घायल किया है । अगर मेरा निशाना सही न बैठता तो यह इस तरह यहाँ गिरता थोड़े ही । इस पर मेरा अधिकार है ।’

सिद्धार्थ ने कहा—‘तुम्हें इस मासूम पक्षी पर दया नहीं आई ? इसने तुम्हारा क्या विगाड़ा था ?’

देवदत्त ने तैश में आकर कहा—‘मैं व्यर्थ की बहस में नहीं पड़ना चाहता । यह हंस मेरे वाण से घायल होकर गिरा है—मेरा शिकार है, इसलिए मेरा ही इस पर अधिकार है । मुझे दे दो ।’

सिद्धार्थ ने कहा—‘मैं कहता हूँ, इस पर मेरा अधिकार है, क्योंकि मैंने इस घायल निरीह पक्षी की रक्षा की है । मैं यह हंस तुम्हें नहीं दूंगा ।’

हंस किसका है—इस सम्बन्ध में दुनियावी कानून क्या कहता है, इस पर विवाद हो सकता है । पर एक कानून ऐसा भी है जो सब कानूनों से ऊपर है ।

और उसी कानून का यह दावा है कि मारने वाले से बचाने वाला हमेशा बड़ा होता है। यदि ऐसा न हो तो दुनियां में से सब सद्गुणों का सफाया हो जायेगा। इतना ही क्यों, नैतिकता के इस आधार के बिना मानवता का भी क्या अर्थ है? नैतिकता-शून्य मानवता पशुता का ही पर्याय नहीं है क्या? नीतिकारों ने कहा है—

दुष्टानां च खलानां च परद्रव्यापहारिणाम् ।

अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥

दूसरों के द्रव्य का अपहरण करने वालों, दूसरों का सदा अनिष्ट सोचने वालों, दुष्टों और खलों की दाल सदा नहीं गल पाती, इसीलिए तो यह संसार टिका हुआ है—नहीं तो न जाने कब का नष्ट हो गया होता।

प्रश्नों का प्रश्न यही है कि वास्तविक अधिकार मारने वाले का है या बचाने वाले का, तोड़ने वाले का या जोड़ने वाले का। इसके साथ ही यह प्रश्न भी जुड़ा है कि मारना कठिन है या बचाना, तोड़ना आसान है या जोड़ना। यहाँ मानव की सहज बुद्धि यह स्वीकार करेगी कि मारना जितना आसान है, बचाना उतना ही कठिन, तोड़ना जितना आसान है, जोड़ना उतना ही कठिन ! और इस कठिन की साधना के लिए ही आज तक मानव प्रयत्न करता आया है।

मानव जाति ने ज्ञान-विज्ञान में आज तक कितनी प्रगति की है। एक-एक रोग के निवारण के लिए हजारों-हजार लोगों ने अर्हानिश प्रयत्न करके उसमें सफलता पाई है और पग-पग पर उपस्थित होने वाली विपरीत परिस्थितियों पर विजय पाई है, उसी से तो यह संसार जीने और रहने योग्य बना है एवं भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रहा है।

पर मृत्यु के व्यापारी भी चुप कहाँ बैठते हैं ! श्मशान-गिद्धों को तो मुर्दार में ही आनन्द आता है न ! जिस गगनचुम्बी अट्टालिका के निर्माण में हजारों मजदूरों और सैकड़ों राजों ने अपना खूनपसीना एक किया हो, कारीगरों ने अपनी कारीगरी से जिसे सजाया-संवारा हो, उसी भव्य अट्टालिका की चन्द ईंटें खिसकाने के लिए सिर्फ चन्द सेंधमारों की आवश्यकता होगी और अगर इमारत को भस्मसात् करना हो तो उसके लिए कोई भी, एक और सिर्फ एक, सिरफिरा आवारा ही काफी होगा !

जिन देशभक्तों ने गत ६२ वर्षों में एक-एक ईंट को चिन-चिन कर कांग्रेस जैसी महान संस्था की भव्य और बुलन्द इमारत खड़ी की थी, जिसकी नींव में जाने कितने हुतात्माओं का लाल-लाल रक्त पड़ा है, आज उसमें सँघमारी करने वाले ही अपने आपको उसका असली रक्षक और भालिक भी बतावें, इससे बढ़कर विडम्बना और क्या होगी। भक्षकों को रक्षकों के स्थान पर सुसज्जित और सन्तुष्ट देखकर इमारत के धराशायी होने का दृश्य और करुणा उत्पन्न करता है।

प्रश्न फिर वहीं आकर अटक जाएगा कि अधिकार तोड़ने वाले का है, या जोड़ने वाले का। देवदत्त का या सिद्धार्थ का? इसी प्रसंग में, पृथ्वीराज चौहान के वंशज, पाकिस्तान के शायरे-आजम और शायरों में 'अब्बुल असर' (प्रभावशालियों का पिता) के खिताब से ही अलंकृत, हफीज जालन्धरी का एक शेर याद आता है—

ये खूब क्या है, ये जिस्त क्या है,
बशर ~~की~~ असली सरिस्त क्या है ?
बड़ा मजा हो तमाम चेहरे
अगर कोई बेनकाब करदे ॥

अच्छा क्या है, बुरा क्या है और मानव का असली स्वभाव क्या है— यह कौन जाने ? हाँ अगर कोई तमाम चेहरों पर से नकाब हटा दे तो कुछ रहस्य खुले।

पर नकाब हटावे कौन ? जो खुद नकाब पहने बैठे हैं यदि वे नकाब हटाने का शोर मचावें, तो उनकी सुनेगा कौन ?

कहते हैं कि जब माथोत्सेर्तुंग बहुत छोटा था तो उसकी माँ ने उसे एक काम सौंपा। बात यह थी कि माँ की एक छोटी-सी बगिया थी जिससे उसे बहुत लगाव था। वह बड़े प्रेम से एक-एक फूल की देखभाल करती यह प्रेम पुरस्कार लाता और उस बगिया के फूलों की सर्वत्र तारीफ होती। बूढ़ी माँ एक बार बीमार पड़ गई, तो उसे अपनी बीमारी की उतनी चिन्ता नहीं हुई, जितनी उस बगिया के फूलों की हुई। कहीं ये फूल और पौधे कुम्हला न जाएं। माँ ने जिम्मेवारी संभालते हुए कहा—माँ, तुम धबराओ मत, मैं

सबकी अच्छी तरह देखभाल कर लूंगा। मां पन्द्रह दिन तक बीमार रही। इस बीच माँ वगिया में जीतोड़ मेहनत करता रहा। उसे दिन रात वगिया की ही चिन्ता रहती। पर उसकी मेहनत व्यर्थ हो गई। फूल सूख गए, पौधे कुम्हला गए। माँ बड़ा चिन्तित हुआ कि बात क्या है ?

पन्द्रह दिन बाद स्वस्थ होकर मां जब बाहर निकल कर वगिया में आई तो उसकी आँखों में आँसू आ गए। मां को रोता देखकर माँ भी रो पड़ा। माँ ने कहा—‘मां, मैंने मेहनत में कोई कसर नहीं छोड़ी, पर पता नहीं, फूल क्यों सूख गए और पौधे क्यों कुम्हला गए।’ मां ने पूछा—‘तुम वगिया में क्या करते रहते थे—तुम तो सारा समय यहीं लगाते थे।’ माँ ने कहा—‘मैं एक-एक पत्ते की धूल झाड़ता था, एक-एक फूल पर पानी छिड़कता था, फिर भी पता नहीं, ये क्यों सूख गए !’ मां ने कहा—‘तुम पागल हो ! अरे ! फूलों और पत्तों में प्राण थोड़े ही होते हैं, प्राण होते हैं जड़ों में, जो दिखाई नहीं देते। तुमने जड़ों को पानी नहीं दिया, केवल पत्तों को सम्हालते रहे और जड़ों पर पानी के छोटें देते रहे !’

बच्चों को जड़ें दिखाई न दें, यह बात समझ में आती है। लेकिन बड़े भी दिन रात फूलपत्तों को ही सम्हालने में लगे रहते हैं, जड़ों की फिक्र नहीं करते। अगर इतनी पुरानी-पुस्ता इमारतें गिर सकती हैं तब उस इमारत को कौन बचावेगा जो अभी पूरी तरह बनी भी नहीं है ?

दुर्गम घाटी की दुःस्वप्नभरी भयावह रातों की याद लिये सन् सतहत्तर बीत गया। अब नया वर्ष आया तो नई उमंगें लाया—नई आशा और नए विश्वास। साथ में नए खतरे, नया कुहासा भी। शायद कुछ लोग अब भी केवल फूलों और पत्तों को ही सम्हालने और मुहलाने में लगे रहें। जड़ें फिर अनदेखी ही रह जाएँ और मंजिल फिर उतनी दूर नजर आये जितनी पहले नजर आती थी। गालिब का ही शेर है—

देखिए पाते हैं इश्शाक बुतों से क्या फँज।

एक बिरहमन ने कहा है कि ये साल अच्छा है।

देखना यह है कि आशिकों को अपने पूजा-पात्र बुतों से कौन-कौन-सी इनायतें मिलती हैं—भले ही ज्योतिषी कितना ही कहते रहें कि यह साल अच्छा है।

विलासिता के मानदण्ड

अफ्रीका का एक छोटा-सा देश है—वागुई। उसके नए सम्राट का नाम है—बोकासा। फ्रांस में रहने के कारण उनके मन में फ्रेंच संस्कृति का मोह था। सबसे अधिक मोह था उनके मन में नेपोलियन की नकल करने का।

जब वे किसी तरह वागुई के अधिनायक बन गए तब उन्होंने अपने राज्याभिषेक के लिए वही तारीख चुनी जो तब से १७४ साल पहले नेपोलियन के राज्याभिषेक की तारीख थी। जिस कम्पनी ने उस युग में नेपोलियन की राजसी पोशाक तैयार की थी इसी कल्पना से बोकासा ने भी अपनी शाही पोशाक तैयार करवाई। इस पोशाक में सात लाख मोती जड़े गए। उनका मुकुट भी पेरिस के एक ही जौहरी ने तैयार किया जिस पर दो करोड़ रुपये की लागत आई। राज्याभिषेक के अवसर पर मेहमानों के लिए साठ वातानुकूलित मसिंडीज गाड़ियां हवाई जहाज से मंगाई गईं। शाही भोज के लिए लगभग ढाई सौ टन व्यंजन और नाना प्रकार की शराबें भी पेरिस के मशहूर होटलों से ही आईं। बोकासा जिस सिंहासन पर बैठे वह भी नेपोलियन के सिंहासन की नकल पर सोने के विशालकाय पंख फैलाए उकाव की ही आकृति का था।

इस प्रकार बीस करोड़ रु. खर्च करके बोकासा का राज्याभिषेक हुआ। पता नहीं, वागुई जैसे छोटे प्रदेश की कुल मिलाकर वार्षिक आमदनी भी इतनी होगी या नहीं। पर एक अधिनायक की इच्छा की पूर्ति के लिए इतनी धन-राशि की भी क्या कीमत है?

अभी तक पुराने राजा-महाराजाओं की शान-शौकत के किस्से सुनते रहते थे पर आधुनिक युग के राजा महाराजा भी कम नहीं हैं—इसका यह एक उदाहरण है।

महाकवि भर्तृहरि ने लिखा है—

परिक्षीणः कश्चित् स्पृहयति यवानां प्रसृतये

स पश्चात् सम्पूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम् ।

—जो आदमी निर्धनता की अवस्था में एक मुट्ठी जौ के लिए तरसता रहता है, वही सत्ता और धन से सम्पन्न होने पर सारी पृथ्वी को एक तिनके के समान समझने लगता है ।

शायद तृष्णा का यह विस्फोट जितना गरीब देशों में होता है, उतना अमीर देशों में नहीं होता । भूखे के सामने जब स्वादिष्ट भोजन आता है तब वह उस पर टूट कर पड़ता है जैसे यह अवसर पता नहीं फिर कभी आएगा या नहीं । आखिर सब लोग राजा-जनक तो होते नहीं—जो समस्त राजसी ऐश्वर्य के मध्य में भी विदेह के विदेह बने रहें । जलाशय में रहकर भी जल से निर्लिप्त रहना कमल के लिए ही तो सम्भव है । डा. राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति भवन में रहकर भी यदि कमलवत् बने रहे तो शायद इसलिए कि मिथिला-धिपति जनक की भूमि का संस्कार उन्हें विरासत में मिला था ।

महात्मा गांधी के जीवन की एक घटना है—एक दिन सेवा-ग्राम की प्रातःकालीन सभा में प्रवचन के समय वे कहने लगे—‘अब तक मैं एक बहुत बड़ा पाप करता आया हूँ । आश्चर्य है कि आज तक वह मेरी दृष्टि में क्यों नहीं आया । उससे भी बढ़कर आश्चर्य है कि आज तक किसी आश्रमवासी ने भी इसकी ओर मेरा ध्यान क्यों नहीं दिलाया ?

प्रार्थना में उपस्थित सभी आश्रमवासी हक्के-बक्के होकर गांधी जी की ओर देखने लगे । वह कौन-सा पाप है जो आज तक गांधी जी करते आए हैं और किसी के ध्यान में नहीं आया ।

गांधी जी ने कहा—‘वह पाप यह है कि हम सब लोग दातून करके ऐसे ही कूड़े में फेंक देते हैं । यदि सब दातूनों को सुखा लिया जाए तो भोजन भण्डार में एकाध दिन के ईंधन का काम चल सकता है । दातूनों को इस तरह फेंक देना फिजूल खर्ची है और फिजूल खर्ची पाप है ।’

अगले दिन से दातूनें दांत साफ करने के बाद पानी से धोकर धूप में सूखने के लिए डाली जाने लगीं ।

कोई व्यक्ति इस घटना के कारण गांधी को सनकी कह सकता है पर इस प्रकार की सनकों की तो गांधी के जीवन में भरमार है। कभी वे राह चलते रास्ते में पड़ी कोई कील उठा लेते हैं और कहते हैं कि यह कील मेरे राष्ट्र की सम्पत्ति है, यहां बेकार क्यों पड़ी रहे। कभी अपने जेल-प्रवास में सर शंकरलाल से कहते हैं कि तुमसे अपने कपड़े नहीं धुलवाऊंगा क्योंकि तुम साबुन ज्यादा खर्च करते हो...या यह कि दियासलाई की डिब्बी में जितनी तीलियां हैं उन्हें गिनकर रखो और जितनी उनकी संख्या है उतने ही दिन उन्हें चलना चाहिए—उससे पहले खत्म हो गई तो और दियासलाई नहीं मिलेगी। इस प्रकार के और न जाने कितने उदाहरण हैं। भले ही आज की दुनिया उन्हें सनकी कहे, पर उसमें एक जीवन दर्शन झलकता है, एक दृष्टि है जो समग्र जीवन को परिचालित करती है।

दूसरी ओर इस बात की होड़ चलती है कि किस मंत्री ने अपने निवास स्थान की साज सज्जा पर कितना खर्च किया। जिसका बंगला जितना अधिक सुसज्जित, वह उतना ही बड़ा मंत्री। कांग्रेसी राज में सन् ७५-७६ में केन्द्रीय मंत्रियों की कोठियों की साज-सज्जा पर ३,४३,६८६ रु. खर्च हुए थे, और सन् ७६-७७ में ३,७८,५२७ रु.। जनता सरकार इसी बात पर गर्व करती है कि हमने तो अपने मंत्रियों की कोठियों की साज-सज्जा पर केवल १,७६,८८६ रु. ही खर्च किए हैं। यह भी कोई होड़ की बात है। प्रत्येक मंत्री को अपनी कोठी के फर्नीचर आदि पर २८,००० रु. तक खर्च करने का अधिकार है। केवल गृहमंत्री चौ. चरणसिंह ही थे जिनकी कोठी की साज-सज्जा पर केवल ढाई हजार रु. खर्च हुए हैं, बाकी मंत्रियों का बजट तो इससे कई गुना ऊपर ही ऊपर है।

इन सबके मुकाबिले में महात्मा गांधी की सेवाश्रम की कुटिया है। आज उसमें शायद सरकार का कोई चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी भी रहने को तैयार नहीं होगा क्योंकि उसमें बिजली नहीं है और बिजली क्यों नहीं है? गांधी जी से एक बार किसी ने कहा था—‘जब सेवाश्रम नाम से अभिहित पास के गांव तक में बिजली आ गई है, तब आप अपनी कुटिया में भी बिजली क्यों नहीं लगवा लेते।’ गांधीजी ने उस समय जो उत्तर दिया था, वह उनके

सारे जीवन-दर्शन का निचोड़ है। उन्होंने कहा था—‘जिस दिन भारत के छोटे-से-छोटे ग्राम में भी बिजली पहुँच जाएगी, मैं उसी दिन अपनी कुटिया में बिजली लगाने की स्वीकृति दे दूँगा।’

असल में विलासिता क्या है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। शाह आयोग के सामने गवाहियों में यह बात सामने आ रही है कि कुछ लोगों को इसलिए विलासितापूर्ण जीवन बिताने का दोषी पाया गया क्योंकि उनके घर में फ्रिज था, या टेलीविजन था, या कार थी। एक सज्जन के घर में छपा मारने पर दो किलो दूध रखा पाया गया और इसे भी विलासिता की सूची में दर्ज कर लिया गया। स्पष्टतः यह विलासिता की परिभाषा का उपहास है। एक समय था जब किसी के घर में रेडियो होना विलासिता की निशानी माना जाता था। धीरे-धीरे रेडियो का स्थान फ्रिज और टेलीविजन ने ले लिया। अब सामान्य मध्यवर्ग के लोग भी अपने उन्नत जीवन स्तर की ओर बढ़ते कदमों की दुहाई देने के लिए फ्रिज और टेलीविजन को अपनी बैठक में ऐसी जगह रखते हैं कि आगन्तुक की प्रथम दृष्टि उन्हीं पर पड़े।

विलासिता का सम्बन्ध शायद किसी बाहरी भौतिक पदार्थ से उतना नहीं है जितना मन की वृत्ति से है। आज तो जीवन-स्तर को उन्नत करने की होड़ में नैतिकता के सभी स्तरों को भी ताक पर रखने की होड़ चल रही है। अब राजनीति में भी ‘राज’ तो हावी है, पर ‘नीति’ नदारद है। हरेक अपने से भिन्न व्यक्ति से नैतिकता की आशा करता है और अपना दांव लगाने पर सबसे पहले उसी का गला घोटता है। अधिक से अधिक परिग्रह ही जैसे सभ्यता के विकास की निशानी माना जा रहा है।

ऋषि दयानन्द जब अवधूत वेष में विचरण कर रहे थे तब कौपीन के सिवाय और कुछ धारण नहीं करते थे। कौपीन भी सिर्फ एक ही। एक भक्त ने यह स्थिति देखकर दूसरा कौपीन लाकर दिया। जब ऋषि उस नगर से गए तो भक्त द्वारा दिया गया दूसरा कौपीन वहीं छोड़ गए।

अपरिग्रह के ऐसे उदाहरण शायद गांधी और दयानन्द के साथ ही चले गए हैं !

आजादी का दीवाना

शायद सन् १९१४ की बात है ! कलकत्ता में रामकृष्ण मिशन का उत्सव चल रहा था और एक तेजस्वी तपोमूर्ति व्यक्ति युवकों का आह्वान करते हुए कह रहा था, 'कौन है जो युगों-युगों से भारतमाता की उठती पुकार सुनेगा ? कौन है जो भारत माता के आँसू पोछेगा ? मेरी आशा युवकों पर केन्द्रित है ! ओ भारत के वीर जवान ! पर्वतराज हिमालय की चट्टानें तुम्हें साधना के लिए पुकार रही हैं ।'

अगले ही दिन एक युवक हिमालय की हिमाच्छादित चट्टानों की ओर साधना के पथ पर चल दिया । वह युवक कई मास तक हिमालय की कन्दराओं में सत्य की खोज में भटकता रहा । उसने कठोर तपस्या की । अनेक साधुओं का सत्संग किया । अन्त में एक दिन उसकी अन्तरात्मा से आवाज आई, 'भारत के लाल ! तेरा शरीर तेरा नहीं है, भारतमाता का है । जिस सत्य की खोज में तू इतनी दूर यहाँ आया है वह, तेरे भीतर ही है । दिव्य चक्षुओं से उसे खोज, वह तो तेरे मानस में ही अन्तर्निहित है और नर में ही तुम्हें नारायण के दर्शन होंगे । सेवा ही उसके दर्शन का मार्ग है ।'

युवकों का आह्वान करने वाली वह तेजोमूर्ति थी स्वामी विवेकानन्द की और जो युवक साधना के पथ पर निकल पड़ा वह था सुभाषचन्द्र बोस । उसके बाद जन-सेवा के माध्यम से नारायण को पाने के लिए सुभाष ने अपना सारा जीवन दांव पर लगा दिया ।

जिस आई. सी. एस. के लिए उस समय भारत का अभिजातवर्ग जी-जान की बाजी लगाने को सन्नद्ध रहता था, क्योंकि उससे जीवन के स्वर्णिम प्रासाद के कपाट खुल जाते थे, उसी आई. सी. एस. को सुभाष ने गौरव के साथ

पास करके भी स्वेच्छा से तिलांजलि दे दी क्योंकि वह सेवा का नहीं, अफसरी और हुकूमत का मार्ग था।

उन्हीं दिनों में देश में सन् १९२१ का असहयोग पूरे जोरों पर था। विजय-वाड़ा कांग्रेस में एक करोड़ स्वयंसेवक और दो करोड़ रु० तिलक स्वराज्य फण्ड के नाम से एकत्रित करने का संकल्प किया गया था। बंगाल में स्वयंसेवकों के संगठन का दायित्व सुभाष ने संभाला। ब्रिटिश सरकार को यह सहन नहीं हुआ। सुभाष को ६ मास के लिए जेल भेज दिया गया।

जेल से छूट कर आये तो न सुभाष को चैन, न सरकार को चैन था। तीन वर्ष बाद फिर गिरफ्तार करके मांडले जेल भेज दिया। लोकमान्य तिलक और लाला लाजपत राय भी इसी जेल को कृतार्थ कर चुके थे। तीन वर्ष बाद जब वहाँ से सुभाष छूटे तो सरकार ने यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि सुभाष किसी भी भारतीय वन्दरगाह पर नहीं उतर सकते—केवल यूरोप-प्रवास कर सकते हैं।

सुभाष अंग्रेजों की इस चाल को समझते थे। वे जानते थे कि कुछ अर्से तक यूरोप में रहने के बाद सरकार उन्हें विद्रोही और अवांछित व्यक्ति करार देकर सदा के लिए भारत-प्रवेश से वंचित कर देगी, इसलिए सुभाष ने अपने भाई को लिखा—“मैं अनिश्चित काल तक विदेश में रहने की अपेक्षा भारत की जेल में तिलतिल करके मर जाना पसन्द करूँगा। सरकार का क्या भरोसा है कि वह कब तक मुझे निर्वासन में रखे।

पर ऐसा भी अवसर आया जब भारत की जेल में तिल-तिल करके मरने के बजाय सुभाष ने भारत से किसी न किसी तरह निकल जाना अधिक श्रेयस्कर समझा।

द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था। सुभाष जेल में पड़े-पड़े जहाँ संसार के घटनाचक्र का अध्ययन कर रहे थे, वहाँ भारतमाता के पांवों की बेड़ियाँ काटने के लिए भी आतुर हो रहे थे। उनकी अन्तरात्मा कह रही थी कि अब नहीं तो फिर कब ?

कुछ इसी तरह का प्रश्न शायद महात्मा गांधी की आत्मा को भी कचोटा रहा था, इसीलिए उन्होंने देश को ‘करो या मरो’ का आह्वान दिया था।

पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बारीकी से अध्ययन करने वाले और अंग्रेजों की जातीय मनोवृत्ति को पूरी तरह हृदयंगम करने वाले सुभाष इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे और अन्ततः वे कारावास से ऐसे अन्तर्धान हुए कि ब्रिटिश साम्राज्य चौकड़ी भूल गया और सारा संसार स्तब्ध रह गया।

अन्त में वे पेशावर-अफगानिस्तान होते हुए जर्मनी में प्रकट हुए। वहीं आजाद हिन्द सेना का निर्माण किया और जब बर्मा पूर्णतः जापान के अधि-कार में आ गया तब पूर्वी एशिया को भारत की आजादी का मुख्य द्वार मान कर उन्होंने बर्लिन से टोक्यो तक एक पनडुब्बी में यात्रा की। युद्ध के दिनों में यह अपने ऊपर कितना बड़ा खतरा मोल लेना था, इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

कूछ दिन टोक्यो में रहने के पश्चात् वे सिंगापुर पहुंचे और ४ जुलाई १९४३ को, उसी सिंगापुर में, जो ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा का पूर्वी सिंह-द्वार था, विशुद्ध भारतीय नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज का विधिवत् संगठन स्थापित हो गया। दो मास बाद एक विराट सम्मेलन बुलाया गया और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने उस सेना के अध्यक्ष और सुप्रीम कमाण्डर-इन-चीफ के रूप में शपथ ली।

दो अक्तूबर १९४३ को आजाद हिन्द फौज ने गांधी जयन्ती मनाई और उस दिन सुभाष बोस का जो भाषण प्रसारित हुआ वह स्मरणीय है। उस भाषण का एक अंश देखिए—

“गांधीजी मेरे गुरु हैं, मैं अपने गुरु की स्मृति को प्रणाम करता हूं। इस क्षितिज के पार इन बल खाती हुई नदियों, लहराते हुए क्षेत्रों और जंगलों के पार स्वर्ण-भूमि है, हमारे सपनों का देश। वह संसार का सबसे सुन्दर देश है। उसके आकाश में चांद अजब रोशनी फेंकता है, उसके पेड़ों की डालों पर विहग अजब मिठास ढोलते हैं और उन पेड़ों की छांह में बैठकर वहाँ के ऋषियों ने सृष्टि के विभिन्न रहस्यों की खोज की है। जिस गांधी की जयन्ती आज हम मना रहे हैं, वह आधुनिक ऋषि हैं। उनकी अहिंसा ही मानवता की एकमात्र आशा है लेकिन गुलाम देश की अहिंसा, अहिंसा नहीं कमजोरी होती है। इसलिए हम पहले अपने देश को आजाद करेंगे। मौत की मंजिलें

पार करते हुए हमें दिल्ली पहुंचना है। जिस दिन दिल्ली के लालकिले पर तिरंगा झंडा लहराएगा, उस दिन मणि-जटित सिंहासन पर हम महात्मा गांधी को बिठाएंगे, गंगाजल से उनके चरण पखारेंगे और उनसे कहेंगे कि अब आप संसार का नेतृत्व अपने हाथ में लीजिए। अब आपकी अहिंसा की जरूरत है—मेरे गुरुदेव !'

आखिर १५ अगस्त, सन् १९४७ को लालकिले पर तिरंगा लहराया, तो भारत की जनता लालकिले की प्राचीरों की आंख फाड़-फाड़कर निहारती रही कि कदाचित् किसी कोने से सुभाष—भारत की आजादी का दीवाना सुभाष—प्रकट हो जाए। पर सुभाष प्रकट नहीं हुए।

हाँ प्रकट हुई हवा में तैरती हुई उनकी यह आवाज—

'आज हम अपनी मातृभूमि से दूर हैं। नीड़-बिहीन पक्षी की भांति हम अनन्त आकाश में मंडरा रहे हैं—लेकिन हमें एक बार फिर अपनी मातृभूमि में वापिस जाना है। सुनो-सुनो—हवा की लहरों पर यह आवाज, यह पुकार तैरती हुई आ रही है। हमारी जननी हमें बुला रही है, हमारी राजधानी दिल्ली ने हमारे स्वागत के लिए अपने कोट-द्वार उन्मुक्त कर दिए हैं। सुनो, देश के कोने-कोने से, सिन्धु, गंगा और रेवा के पुनीत तट से चालीस करोड़ आवाजें हमें एक साथ पुकार रही हैं। चालीस करोड़ हृदय हमारे स्वागत के लिए धड़क रहे हैं। अस्सी करोड़ भुजायें हमारे आलिगन के लिए खुली हैं।

हां, भारत की आजादी के उस दीवाने के लिए भारत की कोटि-कोटि जनता के हृदय आज भी वैसे ही धड़क रहे हैं और जन-जन की ये भुजायें आज भी आलिगन के लिए वैसे ही आतुर हैं। पर कहाँ है आजादी का दीवाना सुभाष ?

एक और महात्मा बुद्ध

हिन्दु धर्म शास्त्रों में दस अवतार का वर्णन है—मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार, रामावतार, कृष्ण-अवतार, बुद्धावतार और कल्कि-अवतार। वैज्ञानिक लोग विकासवाद के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति और विकास का वर्णन करते हैं। डार्विन के जन्म से सैंकड़ों साल पहले दशावतार के पौराणिक आख्यान में उसी सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन है—यदि यह मान लिया जाए तो ऐसे पौराणिक आख्यानो के रचयिता ऋषियों की दूरगामी दृष्टि पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। कहाँ आधुनिक विज्ञान और कहाँ प्राचीन आख्यान। उस युग में सृष्टि के रहस्यों का वर्णन करने के लिए पौराणिक आख्यान ही तो एकमात्र ज्ञात शैली थी।

पर इन दशावतारों का एक ऐतिहासिक पहलू भी है। उसी ऐतिहासिक पहलू को लेकर श्रद्धालु जनता के मन में यह धारणा बढमूल है कि कलियुग में कल्कि अवतार होने वाला है। जनता की इस श्रद्धा का ही फायदा उठाकर आजकल नए अवतारों की भीड़ खड़ी हो गई है। साईं बाबा से लेकर आचार्य रजनीश तक सभी अपने आपको भगवान कहते हैं और श्रद्धालु जनों के सामने यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कलियुग में जिस कल्कि अवतार की घोषणा की गई थी, वह हम ही हैं और कोई नहीं। कलियुग भी कितना सौभाग्यशाली है कि उसमें एक साथ इतने अवतार बिराजमान हैं। यह सौभाग्य न सतयुग को मिला, न त्रेता को, न द्वापर को।

दस अवतारों की पंक्ति में महात्मा बुद्ध का नाम देखकर आश्चर्य होता है। जिस तथ्यागत ने वेद से लेकर ईश्वर, देवता, यज्ञ, वर्ण व्यवस्था आदि

तक सभी वैदिक मान्यताओं का खण्डन किया, उसी तथागत को हिन्दुओं ने अवतारों की श्रेणी में बिठा दिया। आद्य शंकराचार्य ने बौद्ध आदि अवैदिक मतों का खण्डन करके ही तो 'हिन्दू धर्म के रक्षक' का विरुद्ध पाया था। चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना और अद्यावधि उन मठों का वैसा ही आदर शंकराचार्य की अद्भुत दिग्विजय का सूचक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य ने दार्शनिक स्तर पर बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन करने के लिए अद्वैतवाद का आश्रय लिया और सामाजिक स्तर पर बौद्धों के निराकरण के लिए मूर्तिपूजा और अवतारवाद का आश्रय लिया। अन्यथा निराकार-निर्विकार ब्रह्म के साथ मूर्तिपूजा और अवतारवाद की कोई संगति नहीं बैठती।

अपनी इस विचारधारा में शंकराचार्य और उनके अनुयायी इस सीमा तक आगे बढ़ गए कि उन्होंने महात्मा बुद्ध को भी दस अवतारों में से एक अवतार मान लिया और इस प्रकार जहाँ उन्होंने हिन्दु धर्म को एक व्यापक रूप प्रदान किया, वहाँ महात्मा बुद्ध का हिन्दुत्व से अलग अस्तित्व भी नामशेष कर दिया। इसे नीति कहें, राजनीति या कूट नीति। जो भी हो, शंकराचार्य की यह अद्भुत सफलता थी। अब तथागत के अनुयायी कितने ही हाथ-पांव क्यों न पटकें, जब तक महात्मा बुद्ध दस अवतारों की पंक्ति में विराजमान हैं तब तक वे हिन्दुत्व से अलग अपनी पृथक् सत्ता का डोल नहीं पीट सकते।

जो बात महात्मा बुद्ध के साथ हुई, बहुत कुछ वैसी ही बात अब महात्मा गांधी के साथ हो रही है। दोनों ही महात्मा ठहरे। दोनों ही अहिंसा और करुणा के अवतार। दोनों ही परम्पराओं के भंजक। दोनों ही क्रान्तिकारी विचार में भी, आचार में भी। दोनों ही राजनीति से अलिप्त, किन्तु दोनों ही अपने-अपने समय की राजनीति को अप्रतिम रूप से प्रभावित करने वाले। दोनों ही गरीबों और तथा कथित अवर जातियों (हरिजनों) के हृदय में। दोनों के ही अनुयायी श्रेष्ठ-सामन्त, राजनेता और कोटिशः जन-सामान्य। दोनों का ही संदेश हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों और समुद्रों की उत्ताल तरंगों को लांघकर देश-देशांतर और द्वीप-द्वीपान्तर तक पहुंचा। पर महात्मा बुद्ध एक भक्त द्वारा दिया वराहकन्द (जिसे पालि के ग्रंथों में सूकर मादवम-

शूकर-मार्दव कहा है) खाकर स्वर्ग प्रयाण कर गये और रामभक्त महात्मा गांधी को एक दिवान्ध ने अपनी गोली का निशाना बनाकर राम की गोद में भेज दिया। पीछे रह गया केवल—‘हे राम !’

नाथूराम गौडसे ने सोचा होगा कि उसने गांधी को गोली मारकर सदा के लिए समाप्त कर दिया। पर गांधी भी कैसा जादूगर निकला ! सबके सामने उसकी अन्त्येष्टि हुई, उसका अंग-अंग अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में भेंट कर दिया गया, और जब वह भस्मावशेषी हो गया तब उसके ‘फूल’ भी संसार के सभी प्रमुख तीर्थों में सिरा दिये गए। बची-खुची राख यमुना तट पर राजघाट की समाधि पर दफना दी गई। पर वाह रे जादूगर ! वह सब आवरणों को तोड़कर फिर अपनी राख में से जीवित निकल आया। ईसा का ‘रिजरेक्शन’ तीन दिन बाद हुआ था, पर इस जादूगर मसीहा का पुनर्जन्म पूरे तीस साल बाद हुआ।

जो लोग पहले गांधी को प्रतिक्रियावादी, इतिहास के चक्र को उल्टा घुमाने वाला, सामन्ती रुढ़ियों का पोषक, धर्म और आध्यात्मिकता की अफीम खिलाकर लोगों को निष्क्रिय बना देने वाला, किसानों और श्रमिकों का दुश्मन, अहिंसा का उपदेश देकर क्रान्तिकारियों के आन्दोलन को विफल करने वाला और जनता को कायरता का पाठ पढ़ाने वाला, पूंजीपतियों का पिटू और साम्राज्यवादियों का एजेण्ट आदि आदि कहा करते थे अब वे भी गांधी को गंगा और हिमालय की तरह पावन मानते हैं। अपने आपको उसका पट्ट-शिष्य और सच्चा उत्तराधिकारी साबित करते हैं। जो लोग पहले गांधी को देश और जाति के लिए घातक मानते थे और उसको मंच से हटा देना ही सबसे बड़ी देश सेवा समझते थे, आज वे राजघाट पर जाकर गांधी के नाम की शपथ लेते हैं। गांधी को ‘राष्ट्रपिता’ कहते जिनकी जवान लड़खड़ाती थी और कचहरियों, नगर-निगमों, शिक्षा-संस्थाओं तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर लगे गांधी के चित्र को देखकर जिन्हें भतली आती थी, आज वे ही यह कहते नहीं अघाते—‘गांधी तेरे नाम की जय’ गांधी तेरे काम की जय, गांधी तेरी सुबह की जय, गांधी तेरे शाम की जय।’ इन सद्यः गांधी भक्तों ने पुराने गांधीवादियों और सर्वोदयवादियों को भी पीछे छोड़ दिया है।

जब अमरीकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर भारतीय संसद के अपने भाषण में अठारह बार गांधी का नाम लेते हैं तो ये गांधीभक्त अपनी कुर्सी से उछल-उछल पड़ते हैं और तब उन्हें तुरन्त गांधी टोपी पहनने की याद आती है। अब ये इतने गांधीमय हो गए हैं कि अब इन्हें देश की ही नहीं, सारे संसार की समस्याओं के निराकरण का उपाय गांधी के चरणों के नाखूनों में लिखा हुआ दिखाई देता है। जो लोग पहले कभी भूले-भटके गांधी का नाम मुख में आ जाने पर डिटोल से कुत्ते किया करते थे (चर्चिल के बारे में यह बात कही जाती है), अब उसके वंशज गांधी का नाम लेने में गर्व और गौरव अनुभव करते हैं। गांधी का नाम सुनकर जिन्हें पहले कंपकपी छूटती थी, अब वे अर्हन्श गांधी के नाम की माला जपते हैं। जो पहले गांधी को कोरा आदर्शवादी, अव्यावहारिक और खामखयाली में जीने वाला बताते थे, अब वे ही उसको सबसे अधिक व्यवहारिक मानने लगे हैं।

आपातकाल की जनक पुरानी प्रधानमन्त्री ने अपने नाम के साथ लगे 'गांधी' शब्द का पूर्णतया चरितार्थ करने के लिए एक एक गांधीवादी को कारागार में डाल दिया था—शायद इसलिए कि उनके नाम के सिवाय और कहीं 'गांधी' सुनाई न दे। नए गांधी भक्त अपने नाम के साथ तो 'गांधी' नहीं लगाते, पर गीता के पाठ की तरह जप इसी नाम का करते हैं। गांधी सचमुच पुनर्जीवित हो उठा है।

तो क्या बुद्ध की तरह गांधी को दस अवतारों में शामिल करने की नीति पुनः दुहराई जा रही है ?

न रहे बांस, न बजे बांसुरी

— हितीश वेदालंकार —

संसार का नाम 'संसार' इसीलिए है कि वह निरन्तर सरणशील और गतिशील है। 'जगत्' का अर्थ भी गतिशील ही है। गतिशील अर्थात् परिवर्तनशील। अगर यह जगत् इतना परिवर्तनशील नहीं होता तो इतना सुन्दर भी नहीं होता। तभी तो महाकवि भारवि कह गए—

क्षणे क्षणे यन्वतामुपैति

तदैव रूपं रमणीयतायाः।

— जो प्रतिक्षण नया होता रहे वही रमणीयता का रूप है। मनुष्य के मन को जैसे स्थिरता से नफरत है। स्थिरता अर्थात् जड़ता। मनुष्य क्योंकि चेतन प्राणी है, इसलिए जड़ता से उसकी वितृष्णा स्वाभाविक है। जड़ और चेतन का यह विकर्षण समझ में आता है।

पर मनुष्य का स्वभाव भी एक विचित्र पहेली है। एक ओर वह स्थिरता से घृणा करता है, पर दूसरी ओर वह अपनी ओर से प्रयत्न यह करता है कि वह अपने चिन्तन, अपने कर्म और अपने जीवन की कुछ ऐसी छाप छोड़ जाए कि वह संसार में अधिक से अधिक समय तक याद किया जाता रहे— उसका कृतित्व स्थायी हो।

जब छोटे-छोटे बालक मिट्टी के घरों बनाकर उनके स्थायित्व की कामना करते हैं तो समझदार लोग उनकी अबोधता पर हंसते हैं। पर जब बड़े लोग बड़े-बड़े महल बनाकर उनके स्थायित्व की कामना करते हैं तो क्षण-क्षण परिवर्तनशील प्रकृति उन बड़े लोगों की अबोधता पर हंसती है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् और उनके विशाल साम्राज्य काल की किस गुफा में बिलीन हो गए— इसका इतिहासकार कहाँ तक हिसाब रखेंगे।

जीवन को क्षण-भंगुर कहकर उसे 'पानी केरा बुलबुला' सिद्ध करने वाले सन्तों की कमी नहीं है पर मनुष्य अपनी प्रकृति से लाचार है। जब उसने भौतिक पदार्थों को नष्ट होते—या वैज्ञानिक भाषा में रूप बदलते—देखा, तब उसने यह यत्न किया कि वह समय-सिन्धु के सिकता-तट पर अपने चिंतन की कुछ ऐसी रेखाएँ छोड़ जाए जिन्हें सर्वग्रासी काल की आंधी उड़ा न सके। शायद पुस्तक का जन्म इसीलिए हुआ। पुस्तक क्या है? समय की रेत पर पड़े किसी महापुरुष के चिन्तन के चरण-चिन्ह ही तो।

असीरिया में प्राप्त बोगाजकोई के शिलालेख को संसार का उपलब्ध प्राचीनतम शिलालेख जाना जाता है पर जहाँ तक पुस्तक का सम्बन्ध है, विद्वानों की यह आम धारणा है कि संसार के पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक यदि कोई है तो वह ऋग्वेद है। ऋग्वेद भी चार वेदों में से केवल एक ही है। आश्चर्य की बात यह कि 'वेद' शब्द स्वयं किसी पुस्तक का वाचक नहीं, प्रत्युत ज्ञान का वाचक है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से जिस धातु से वेद शब्द निष्पन्न होता है उसके चार अर्थ हैं। ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारणा (विद्—ज्ञाने, विद्—सत्तायाम, विद्—लाभे, विद्—विचारणे)। वेदों के अप्रतिम उद्धारक ऋषि दयानन्द ने वेद शब्द के अर्थ में इन चारों धात्वर्थों का प्रयोग किया है।

इसके विपरीत कुरान और बाइबिल दोनों पुस्तकवाची शब्द हैं। अल् कुरान और अल् किताब समानार्थक हैं। बाइबिल का तो अर्थ ही है—किताबें (बुक्स)। असल में बाइबिल एक किताब नहीं, पूरा किताबघर (पुस्तकालय) है। उसमें ६६ किताबें शामिल हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उसमें यहूदियों की ७३ और कैथोलिकों की ४० किताबें शामिल हैं और ये सब पुस्तकें विभिन्न समयों में लिखी गई हैं। बाइबिल में समाविष्ट कुल किताबों को लिखने में १४०० वर्ष लगे—ऐसा विद्वानों का कहना है। 'संहिता' शब्द में भी संकलन का भाव है। वेदों के साथ जुड़ा 'संहिता' शब्द शायद विभिन्न समयों में अमुक-अमुक मंत्रों के संकलन का ही स्रोतक हो।

'किताब' का सम्बन्ध 'कातिब' से और 'किताबत' से है—अर्थात् किताब वह है जो किसी लेखक द्वारा लिखी गई हो और जो ज़िह्द या किसी आवरण

से ढकी गई हो। यही जिल्द वाला भाव शायद 'पुस्तक' शब्द में भी है— जिसकी 'पुस्त' (फारसी में पुस्त) अर्थात् पुट्टा हो।

यह चर्चा चिकित्सा-शास्त्र में अस्थि-विज्ञान की तरह नीरस हो सकती है, पर मांस-मज्जा-रक्त और अस्थि आदि के परिचय के बिना क्या चिकित्सा सम्भव है? भले ही शरीर में त्वचा कितना ही बाहरी आवरण-मात्र क्यों न हो, पर सौन्दर्य के पारखी तो यह कहने से बाज नहीं आते—

न्यूटी इज बट स्किन-डीप

—सौन्दर्य केवल त्वचा की गहराई तक है। इसीलिए जिल्द की सुन्दरता को देखकर ही कुछ लोग पुस्तकों का मूल्यांकन करते हैं पर तभी यह उक्ति चरितार्थ होती है—

एपीयरसेज आर डिसेप्टिव—

—आकृतियाँ अक्सर धोखा देती हैं। या यों कह लीजिए—

आल दैट गिलटर्स इज नाट गोल्ड

—हरेक चमकने वाली चीज सोना नहीं होता! पर आजकल २४ कैरट का शुद्ध सोना तो बर्जित है और २२ कैरट के नाम से जो सोना चलता है उसको भी गिलट के आभूषणों की चमक कहीं पीछे छोड़ जाती है। कुछ पुस्तकें गिलट की होकर भी स्वर्णमयी पुस्तकों से इसीलिए तो अधिक बिकती हैं।

रूसी और वाल्टेयर की पुस्तकों ने फ्रांस में राज्यक्रांति को जन्म दिया। मार्क्स की 'दास कैपिटल' ने संसार को एक नई समाज-व्यवस्था दी और श्रीमती स्टो की 'टाम काका की कुटिया' ने अमरीका में दास प्रथा को समाप्त करवा दिया। क्या इतने क्रांतिकारी परिवर्तनों में उन पुस्तकों की जिल्दों का भी कोई स्थान है? त्वचा की रंगत से या बाहरी वेष-विन्यास से मनुष्यता को नापने वाले शायद इसका कोई उत्तर दे सकें।

अक्षर भी तो एक तरह का वेष है जिसे पहन कर विचार कागज पर चहलकदमी करता है, या धमा-चौकड़ी मचाता है। शब्द की ब्रह्म कहने वालों ने शायद शब्द की शक्ति को पहचाना था पर उस गुरु को क्या कहोगे जिसने मौन रहकर ही अपने शिष्यों के सारे संशय मिटा दिए—

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्नसंशयाः ।

यों मौन भी एक तरह की भाषा है—‘खामोशी भी एक अन्दाजे-वयां है’ पर उस भाषा तक पहुंचने की सामर्थ्य सब में नहीं होती। फिर चारों ओर के घनघोर कोलाहल से जिनकी श्रवण-शक्ति ही समाप्त हो गई है, वे कोई भी भाषा कैसे समझेंगे? पर यह बहुरापन ही क्या मौन की भाषा को समझने का अवसर और पात्रता प्रदान नहीं करता? नहीं तो शेक्सपीयर को बुक्स इन दि बुक्स, एण्ड सर्मन इन दि स्टोन

—जल धाराओं में छिपी किताबें और पत्थरों के नीचे दबे ‘सर्मन’ कहाँ से मिल जाते?

कहते हैं, अब्दुरहीम खान-खाना बड़े सखी दाता थे। एक बार वे अपने लाव-लश्कर के साथ आगरा से बुरहानपुर जा रहे थे। रास्ते में जब पड़ाव डाला तब उनके खेमो की शाही जानी शौकत देखकर एक आदमी यह शेर पढ़ता हुआ सामने से गुजर गया—

मुनअम बकोहो दस्तो बयावां गरीब नीस्त ।

हर जा के रफ्ता खेमा जदो बारगाह जीस्त ॥

—किसी बियावान बीरान जंगल में भी तेजस्वी आदमी गरीब थका-मांदा और पस्त-हिम्मत नजर नहीं आता, वह वहाँ भी खेमो आदि से महलों का साहूल बना लेता है।

खानखाना शेर कहने के अन्दाज पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने तुरन्त उस आदमी को एक लाख रुपया इनाम दे डाला। उस आदमी ने सात बार यह शेर पढ़ा और रहीम ने हर बार उसे एक-एक लाख रुपया इनाम दिया। उसके बाद वह आदमी ही जानबूझकर वहाँ से टल गया, पर रहीम की सख्तावत नहीं टली।

कहते हैं कि छत्रपति शिवाजी के सामने महाकवि भूषण ने ‘इन्द्र जिमि जम्भ पर’ नामक प्रसिद्ध छन्द ५६ बार पढ़ा था और शिवाजी ने इस पर कवि को ५६ गांव, ५६ लाख रुपया और ५६ हाथी इनाम में दिए थे।

महाराज भोज के बारे में तो यहाँ तक मशहूर है कि वे दरबार में पहुँचने वाले किसी भी कवि को कभी खाली हाथ नहीं लौटाते थे और जिस कवि

६२ देवता : कुर्सी के

की कविता पर वे प्रसन्न हो जाते थे उस पर तो 'प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ' अर्थात् एक-एक अक्षर पर एक-एक लाख रूपया तक इनाम दे देते थे ।

इन किवदन्तियों का कुछ अंश सच हो सकता है पर अब कहाँ हैं ऐसे प्रतिभासम्पन्न गुणी-जन और कहाँ हैं वैसे गुण-ग्राहक नृप-जन ! अब तो भर्तृहरि की यह उक्ति पुरानी होकर भी कितनी सटीक बैठती है—यही देखकर आश्चर्य होता है—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मय दूषिताः ।

अबोधोपहृताश्चान्ये जीर्णमंगे सुभाषितम् ॥

—बुद्धिजीवी परस्पर ईर्ष्या-द्वेष में ग्रस्त हैं, सत्ता-सम्पन्न और समर्थ लोग अपने मद में चूर हैं; सामान्य जनता विचारी अपने अज्ञान और अभाव से ही पीछा नहीं छोड़ा पाती, इसलिए अब सुभाषित और सुविचार कहाँ जाएँ—अच्छा है वह अपने अंग में ही विलीन हो जाएँ—मुख या कलम से बाहर ही न निकले । न रहे बांस, न बजे बाँसुरी !

अरमानों के स्मारक

सरदार जाफरी ने लिखा है—

मैं हूँ सदियों का तफक्कुर मैं हूँ करनों का खयाल ।

मैं हूँ हम आगोश अजल से मैं अबद से हम-किनार ।

—मैं कई सदियों का चितन हूँ और कितने ही युगों की कल्पनाएं अपने में समाए हूँ । मृत्यु मेरी अंक-शाधिनी है और जन्म से मेरा मेल-जोल है । इसके बाद लिखा है—

चुन लिए हैं बागे-इत्सानी से अरमानों के फूल ।

जो महकते ही रहेंगे मैंने गूँथे हैं वे हार ।

सचमुच शायर ही नहीं, मानव मात्र कितने अरमानों से फूल चुनता है और फिर उनके सुन्दर हार गूँथ कर यह आशा करता है कि ये हार सदा महकते ही रहेंगे पर सुन्दर से सुन्दर हारों को मुरझाते देर नहीं लगती ।

हजार से भी अधिक साल बीत गए—जावा में बोरोबूद्धर के विशाल मंदिर का निर्माण न जाने कितने अरमानों से हुआ था । कितना धन, शक्ति, समय और कारीगर उसमें लगे थे, इसका आज किसके पास हिसाब है ? समस्त पूर्वी एशिया में ही नहीं, विश्व भर में वह बौद्ध, शैव और वैष्णव संस्कृति के समन्वय का अद्भुत प्रतीक था । उसकी दीवारों पर बौद्ध जातक कथाओं के ही नहीं, रामायण और महाभारत की कथाओं के चित्र भी अंकित थे पर भूकम्प ने और क्रूर प्रकृति ने उस मंदिर को इतना विकृत कर दिया कि संसार के समस्त पुरातत्त्व प्रेमी और कला-प्रेमी विचलित हो उठे और उन्होंने उसके पुनरुद्धार का बीड़ा उठा लिया । इस काम में दस लाख पत्थरों

को स्थानान्तरित करना पड़ेगा, लगभग बीस करोड़ रुपए खर्च होगा और यह कार्य सन् १९८२ में जाकर पूरा होगा।

यह तो केवल एक उदाहरण है। इस समय संसार भर में जितने भी प्राचीन स्मारक हैं, उनका अस्तित्व खतरे में है। एशिया, यूरोप, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका में जितने भी इतिहास-प्रसिद्ध स्मारक हैं, उन सब पर काल की छाया मंडरा रही है। वेनिस से लेकर ग्वाटे-माला तक और मिस्र की 'वैली आफ किंग्स' से लेकर बोरोबुद्धर तक, यही कथा है।

एथेंस के ढाई हजार साल पुराने किलों (एकोपोलिस) की हालत इतनी खस्ता हो गई है कि ग्रीक सरकार से उनकी हिफाजत की प्रार्थना की गई। जब ग्रीक सरकार ने कान नहीं दिया, तब विश्व के पुरातत्त्व-प्रेमी समुदाय से प्रार्थना की गई और अब संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) ने यह काम अपने हाथ में ले लिया है। इस काम में भी लगभग १४ करोड़ रु. व्यय होगा और उन सबके उद्धार में पांच से दस साल तक का समय लगेगा। यूनान के ये ऐतिहासिक स्मारक दोनों विश्व-युद्धों में हुई बम वर्षा से ध्वस्त नहीं हुए, भूकम्प भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सके और डाकुओं की लूटमार को भी वे सहार गए, पर अब जो नए ढंग के डाकू पैदा हो गए हैं, उनका बार सहना उनके बस का नहीं रहा।

ये नए डाकू कौन हैं ?..

ये नए डाकू हैं—पर्यटक लोग। सभ्यता और उद्योगीकरण के विकास के साथ-साथ संसार में पर्यटकों की संख्या भी बेहद बढ़ी है। ऐतिहासिक और प्रसिद्ध स्मारकों में भी नए ढंग की रुचि बढ़ी है। ये पर्यटक अपनी यात्रा की स्मृति के रूप में उन स्मारकों का एकाध छोटा-मोटा पत्थर भी अपने साथ ले जाने लगे और देखते-देखते यह एक व्यवसाय बन गया। गत वर्ष इन यूनानी ऐतिहासिक संस्थानों को देखने के लिए तीस लाख पर्यटक आए थे। यदि इनमें से प्रत्येक अपने साथ एक-एक प्रस्तरखण्ड भी ले जाएं तो उन स्मारकों की क्या गति होगी, कल्पना कीजिए।

अभी हाल में ही मिस्र की 'वैली आफ किंग्स' में ७५ मकबरों की खोज हुई है। नील नदी की बाढ़ों के प्रकोप को ये मकबरे येन केन प्रकारेण सह गए, पर नए ढंग के पर्यटक लुटेरों से ये भी भयाक्रान्त हैं।

आस्वान बांध के निर्माण में जिन मंदिरों के सर्वथा डूब जाने का खतरा था, वैज्ञानिकों ने अपने श्रम और प्रतिभा से उन मंदिरों को तो डूबने से बचा लिया। वह भी इस तरह कि एक-एक पत्थर को सावधानी से निकाल कर; दूसरे स्थान पर उन्हें जोड़ कर, फिर नए मन्दिर खड़े कर दिए।

इसी प्रकार दक्षिण अमेरिका में मय सभ्यता के जितने प्राचीन अवशेष थे और जो उस समय की कला के सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे, उनके भी नाम-शेष होने का खतरा पैदा हो गया है, और पुरातत्त्व प्रेमी उनकी रक्षा के लिए चिन्तित हैं।

हालैंड का विश्व प्रसिद्ध सेंट पाल का गिरजाघर भी मरम्मत की प्रतीक्षा में है। इस काम में सहायता के लिए दक्ष कारीगरों की कमी न पड़े, इसलिए संगतराशी का एक स्कूल ही गिरजाघर के पास खोल दिया गया है। इसी प्रकार बुलगारिया की मध्ययुगीन राजधानी—तुर्नोवो—की खुदाई के लिए भी तीन करोड़ रु. की एक योजना बनाई गई है।

यूनेस्को ने अभी तक जिन पुराने स्थानों के जीर्णोद्धार में सफलता प्राप्त की है, उनमें मुख्य हैं—मोएं-जो-दड़ो (जिसका अर्थ है—मृतकों का टीला और जिसे गलती से 'मोहेन्जोदारो' लिखा-पढ़ा जाता है) यह स्थान सिन्ध के नवाबशाह (पाकिस्तान) में है। इसी प्रकार की सफलता वेनिस और काथेंज में भी यूनेस्को ने प्राप्त की है। पर मोएं-जो-दड़ो की खुदाई ने इतिहास को जिस सीमा तक प्रभावित किया है, उस सीमा तक और किसी प्राचीन खंडहर के जीर्णोद्धार ने नहीं किया।

जोश मलीहाबादी (उत्तर प्रदेश में जन्मे शरीर हसन खां 'जोश'—जो बाद में पाकिस्तान चले गए, पर वहां जाकर उनका मोह भंग हो गया) ने कहा है—

जीते हैं तो मरने के लिए जीते हैं।

मरते हैं तो बेदर्रेग जीने के लिए ॥

यह मरने के लिए जीना और फिर भरपूर जीने के लिए मरना—यही चक्कर संसार में चलता रहता है। पुराने खंडहरों के जीर्णोद्धार के लिए प्रयत्न किए जाते हैं और नए भवन फिर-फिर जीर्ण होते चले जाते हैं। यही सृष्टि

६६ देवता : कुर्सी के

का क्रम है। कितने ही अरमानों से हार क्यों न गूँथे जाएं, पर उनको मुरझाने से नहीं रोका जा सकता।

बात हम खंडहरों और पुराने ऐतिहासिक स्मारकों के जीर्णोद्धार की कर रहे हैं पर रह-रहकर हमारा ध्यान चला जाता है मानवीय स्मारकों की ओर। मानव के रूप में वे कैसे अद्भुत स्मारक थे, या हैं—जिन्होंने इतिहास को अपना वशंवद बना कर अपने पीछे-पीछे चलने को बाध्य किया, लोग उनकी महिमा के गीत गाते-गाते नहीं थकते थे पर वे माननीय स्मारक भी अब ढह रहे हैं। यह स्मारकों के खण्ड-खण्ड होने का युग है। इन जड़ स्मारकों के पुनरुद्धार के लिए तो सब चिन्ता करते हैं, पर मानव रूपी महान स्मारकों की एक-एक ईंट उखाड़ने से लुटेरे इतिहास-लेखक बाज नहीं आते।

अरे ! इन मानवीय स्मारकों का भी तो कोई जीर्णोद्धार करे !

‘आई’ : ‘आई’ : ‘आई’

अंग्रेजी का एक अक्षर है—‘आई’। वर्णमाला के इस नौवें अक्षर और तीसरे स्वर का अपना एक इतिहास है। सामी (सेमेटिक) अक्षरों में यह केवल व्यंजन था, स्वर नहीं और वहाँ ‘वाई’ अर्थात् य का स्थानापन्न था। वहाँ से जब यह अक्षर ग्रीक में आया तब उन्होंने इसे स्वर के रूप में स्वीकार किया क्योंकि ग्रीक में ‘वाई’ था ही नहीं परन्तु जब यह अक्षर लैटिन में आया तब यह स्वर और व्यंजन दोनों था। लैटिन से यह रोमन में आया तो शुरू में व्यंजन के रूप में ही आया किन्तु बाद में सतरहवीं सदी के पूर्वार्ध में इसका व्यंजन रूप समाप्त हो गया और इसे केवल स्वर के रूप में मान्यता मिली। सोलहवीं सदी में इसे सर्वनाम की कोटि में रखा गया और अठारहवीं सदी के शुरू में इस अक्षर ने ‘आत्मचेतना का प्रमुख प्रतिपाद्य’ बनकर अपने साथ नए आयाम जोड़ लिये।

इस ‘आई’ अर्थात् ‘मैं’ का वाचक संस्कृत में है—अहम्। संस्कृत व्याकरण के पण्डित इसका अर्थ करते हैं—अ (नहीं), हम् (छोड़ना) अर्थात् जिसे छोड़ा न जा सके। व्यक्ति सारे संसार को छोड़ सकता है, पर अपने आपको नहीं छोड़ सकता। कैसे छोड़े? दुनियाँ उसके बारे में कुछ भी कहती रहे, पर वह अपने अस्तित्व के साथ इतना प्रतिबद्ध है, कि चाहे तब भी, अपने अस्तित्व को नकार नहीं सकता। नकारने की बात छोड़िये, वह अपने अस्तित्व को सारे संसार से ऊपर रखता है। भले ही आप इसे उसका ‘अहं-भाव, कह लें, पर ‘मैं’ नहीं तो, कुछ भी नहीं। आप मरे, जग परलै।

कहते हैं कि एक बार राजा भोज के मन में एक भाव रात को सोते-सोते स्फुरित हुआ और वे उसे छन्दोबद्ध करने में लग गए। धीरे-धीरे श्लोक

के तीन चरण बन गए, पर चौथा चरण नहीं बन पाया। कविता की प्रसव-वेदना कभी होती है, इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। राजा की वैचैनी बढ़ती गई, वे बारम्बार तीन चरण मन ही मन दुहराते रहे। जब चैन नहीं पड़ा तो शय्या से उठकर शयन-कक्ष में टहलने लगे पर चौथा चरण हाथ नहीं लगा।

एक चोर भी उसी रात राजा के यहाँ चोरी करने गया था। वह किसी तरह शयन-कक्ष में घुस तो गया, पर जब देखा कि राजा तो आधा सोया और आधा जागने की मुद्रा में मन ही मन कुछ गुनगुना रहा है, तो वह चुपचाप पलंग के नीचे छिपा गया। वह चौथे चरण की तलाश में राजा की छटपटाहट देखता रहा। जब राजा शय्या से उठ कर टहलने लगे, तब चोर को लगा कि अब तो मैं पकड़ा जाऊंगा। कुछ देर तक तो वह पशोपेश में रहा पर वह चोर भी कवि था। जब उसने राजा को चौथे चरण के लिए यों परेशान होते देखा तो उसने पलंग के नीचे से ही चौथा चरण बोल दिया।

चौथे चरण को सुनते ही राजा को लगा कि शेष तीन चरणों के साथ यही चौथा चरण मौजूं हो सकता है। चोर ने राजा का मुग्धभाव देखा तो पलंग के नीचे से निकल कर हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया और सचमुच स्वीकार कर लिया कि मैं चोरी करने आया था और आपका अपराधी हूँ, अब जो उचित समझें, सजा दे सकते हैं। कवियों का आदर करने वाले और स्वयं काव्यप्रेमी राजा भोज ने उस चोर को न केवल क्षमा कर दिया, प्रत्युत उसे पुरस्कार देकर विदा किया। वे तीन चरण यों थे—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः

सद्दान्ववाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः

गर्जन्ति दन्तिनिवहाः तरलास्तुरंगाः

मनोहारी सुन्दर युवतियाँ हैं, सब मित्र मेरे अनुकूल हैं, बन्धु-बान्धव मुझसे खूब स्नेह करते हैं और सब सेवक बड़ी तत्परता से मेरे आदेश का पालन करते हैं। हाथियों के भुण्ड और चपल तुरंगों की मेरी सेना अन्य राजाओं के लिए स्पृहणीय है।***बस इसके बाद राजा की गाड़ी अटक

गई थी। तभी चोर ने उस अटककी हुई गाड़ी को अपने इस चौथे चरण से दलदल से निकाल दिया—

सम्मीलने नयनयोः नहि किञ्चिदस्ति ॥

आँखों के बन्द हो जाने पर कुछ भी नहीं बचता।

वात हम अहम् की कर रहे थे। वेद का ऋषि भी जब पूरी आत्म-चेतना की तह तक पहुँचता है, तब न केवल अपने आपको ‘अहं ब्रह्मास्मि’—कह कर साक्षात् ब्रह्म घोषित करता है, बल्कि यह भी कहता है—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य—

इद्धनम् न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।

मैं इन्द्र हूँ, मैं कभी पराजित नहीं होता, संसार के समस्त ऐश्वर्य का मालिक मैं ही हूँ और कभी मृत्यु मेरे पास नहीं फटकती। शायद आदमी शराब भी इसीलिए पीता है कि उसके पीने से वह अपने अहं को कई गुना अधिक विस्फारित कर सकता है। एक शायर ने तो साफ-साफ कहा ही है—

जर् से आफताब होते हैं

जब हम मस्त-शराब होते हैं।

भक्ति-रस की मदिरा पीकर यदि भक्त-जन अपने को ब्रह्मा से कम नहीं समझते, तो सामान्य पियक्कड़ भी शराब पीकर समझते हैं कि संसार हमारी बंदौलत ही टिका हुआ है।

एक आदमी विजली के खम्भे से बुरी तरह लिपटा हुआ था। सिपाही ने समझा कि इसने पी रखी है। सार्वजनिक स्थान पर शराब पीने के अपराध में उसे पकड़ने के इरादे से ज्योंही सिपाही उसकी ओर बढ़ा कि खम्भे से लिपटा व्यक्ति चिल्लाकर बोला—‘अरे नहीं—नहीं... इधर मत आना। इस खम्भे ने बहुत अधिक पी रखी है, मैं इसे संभाले खड़ा हूँ कि कहीं यह गिर न पड़े।’

नशा चाहे भौतिक हो, चाहे आध्यात्मिक, नशा है। दोनों तरफ अहं का विस्फोट है। यह अहम् न रहे, तो आदमी की अस्मिता भी न रहे। ‘अहम्’ है, तभी तो ‘अस्मि’ है, अहम् नहीं तो अस्मि भी नहीं, बिना कर्ता के क्रिया कैसी? यह अहम् ही ‘ईगो’ है। यह ईगो ही शक्ति है। बिना शक्ति के साक्षात् शिव भी निरे शव हैं। शक्ति का गलत प्रयोग होने पर शिव को भी शव होते देर नहीं लगती।

‘आई’ से ‘अहम्’ और ‘मैं’ की भाँति हम शिव तक पहुँच गये। यह भी कैसा चमत्कार है कि ‘शिव’ और ‘शव’ में भी केवल ‘इ’ का अन्तर है। वही अंग्रेजी वाला ‘आई’ हिन्दी में आकर ‘इ’ हो गया। इस ‘इ’ में कितनी शक्ति छिपी है, इसे कौन पहचानता था? जब “इन्दिरा इज इण्डिया और इण्डिया इज इन्दिरा” का नारा लगा था—तब तो चारों ओर सिवाय इस अंग्रेजी के ‘आई’ और हिन्दी के ‘इ’ के और कुछ था ही नहीं। तब तो अहम् (हम नहीं) कहते-कहते सिर्फ ‘हम ही हम’ रह गए थे और इतनी अहमहमिका मची थी कि ‘त्वम्’ और ‘तुम’ की ओर किसी को आँख उठाने की फुरसत ही नहीं थी।

‘आई’ कभी स्वर और व्यंजन दोनों रहा होगा, पर अब तो रोमन वर्णमाला में वह केवल स्वर के रूप में स्वीकृत है और व्यंजन कभी बिना स्वर के नहीं चल सकता। अब जब इस स्वर ने पुनः अपना स्वरस्य दिखाया तो नटराज शिव की ताण्डवलीला का दृश्य उपस्थित हो गया और देखते-देखते त्रिपुरारि ने न केवल अपना तीसरा नेत्र ही खोल दिया, प्रत्युत त्रिपुर विध्वंस भी कर दिया। महारथियों की आँखों के सामने लगभग ६० वर्ष पुरानी कांग्रेस जैसी महनीय संस्था ध्वस्त हो गई और कांग्रेस (आई) ऐसी उभर कर सामने आई कि सबको चकाचौंध कर गई। कांग्रेस (आई) को हाथ का चुनाव चिन्ह मिला था। हस्त-रेखाविज्ञ कहते हैं कि हाथ में व्यक्ति का भाग्य लिखा होता है। कांग्रेस (आई) ने अपना ‘हाथ’ ऐसा दिखाया कि बड़े-बड़े ज्योतिषी भी दांतों तले अंगुलि दबा कर रह गए।

मराठी में ‘आई’ का अर्थ है—माता। अंग्रेजी में ‘आई’ का अर्थ है—मैं और हिन्दी में आई का अर्थ है ही—आई, अर्थात् आ...ई। पर अंग्रेजी का एक शब्द ‘आई’ और भी है—जिसका अर्थ—आँख होता है। अब आँख वाले और बिना आँखें वाले सभी उत्सुकता-पूर्वक इस कांग्रेस (आई) के ‘हाथ’ देख रहे हैं कि देखें—देश का ऊंट किस करवट बैठता है और हम प्रसिद्ध शायर जिगर मुरादाबादी के इस शेर से यह ‘आई’ की पुराण समाप्त करते हैं—

परवर्दा-ए तूफ़ानों को कस्ती की नहीं हाजत।

मौजों के तलातुम में साहिल नज़र आता है।

तूफ़ानों में पलने वालों को किस्ती की जरूरत नहीं होती उन्हें तो लहरों की हलचल में ही किनारा नज़र आता है।

भुट्टो बनाम घासीराम

लोग कहते हैं कि नाम में क्या रखा है ? पर जरा कल्पना करिए कि कोई व्यक्ति जनाब जुलफिकार अली भुट्टो को घासीराम कहने लग जाए, तो क्या हो ?

भुट्टो साहब इस समय लाहौर की कोर्ट लखपत जेल में नजरबन्द हैं और उन पर राजनैतिक भ्रष्टाचार के जो ६ मुकदमे चल रहे हैं उनमें से जो सबसे संगीन मुकदमा है उसका आजकल में फैसला होने वाला है। संगीन अभियोग यह है कि उन्होंने सन् १९७४ में अपने एक राजनीतिक प्रतिद्वन्दी नवाब मुहम्मद अहमद रजा कसूरी और उनके पिता को कत्ल करवाने का षड्यंत्र किया था। जनाब भुट्टो ने इस मुकदमे की कार्यवाही का वहिष्कार किया था, फिर भी इस्तग़ासा के वकील की वहस चलती रही थी। वह वहस भी खत्म हो चुकी है और अब उस मुकदमे का फैसला सुनाना ही बाकी है। अगर उन पर अभियोग प्रमाणित हो गया तो भुट्टो साहब को फांसी या आजीवन कारावास की सजा मिल सकती है।

जनाब भुट्टो के समर्थक कह रहे हैं कि जिस मदें गुज्राहिद ने पाकिस्तान को फर्श से अर्श पर पहुँचाकर ऐटमी ताकत बनने का दरवाजा खोल दिया, यदि उसके साथ कुछ अनहोनी हो गई तो इस्लामी दुनिया एक अजीम सिपह-सालार से महकूम हो जाएगी। इसलिए अबाम को चाहिए कि वह भुट्टो को लाहौर जेल में मरने न दे और साम्राजी साजिस के परखचे उड़ा दे।

तभी पाकिस्तान के कुछ अखबारों ने यह भी लिखा कि भुट्टो की मां हिन्दू या फ्रांसीसी थी और भुट्टो का असली नाम घासीराम है। भुट्टो ने खतना नहीं करवाया है और सन् १९५७ में पाकिस्तान का नागरिक बन

जाने के बाद भी उन्होंने भारत की कस्टोडियन अदालत में हलफिया बयान देकर अपने आपको भारतीय नागरिक कहा था ।

क्या भुट्टो भारतीय नागरिक है ?

भारत में एक जाति है—भाटिया । भाटिया लोग अपनी परम्परा भगवान् कृष्ण के यदुवंश से जोड़ते हैं और कृष्णपुत्र प्रद्युम्न को अपना पूर्वज मानते हैं । जिन महाराजा गज ने गजनी का निर्माण किया था उनके प्रपौत्र और स्यालकोट के संस्थापक महाराजा शालिवाहन के पौत्र भाटी ने मिलकर लाहौर की अपनी राजधानी बनाया था और उस भाटी से ही यदुवंश की भाटिया शाखा का प्रारंभ हुआ । बाद में जैसलमेर इनकी राजधानी बनी । जैसलमेर के भाटी या भट्टी इतिहास में अपनी शूरवीरता के लिए मशहूर रहे हैं । कहते हैं कि इन्हीं भाटिया या भट्टी लोगों में से जिन्होंने धर्मान्तरण करके इस्लाम ग्रहण कर लिया, वे भुट्टो कहलाए ।

जनाब जुल्फिकार अली की माँ जैसलमेर की रहने वाली थी और हिन्दू थी और उसका नाम था—लक्ष्मी । लक्ष्मी का जिस कबीले के साथ सम्बन्ध था उस कबीले (मारचिन) की नारियाँ अपने सौन्दर्य के लिए विख्यात रही हैं । भुट्टो के पिता सर शाहनवाज भुट्टो लक्ष्मी के सौन्दर्य और उसकी नृत्य-गान की कला-निपुणता पर मुग्ध हो गए । जब लक्ष्मी ने बिना शादी के उनके साथ रहने से इन्कार कर दिया तो सर शाहनवाज ने उनके साथ बाकायदा निकाह कर लिया । जुल्फी उसी की औलाद है ।

असगर चौधरी नामक लेखक ने एक और बात लिखी है । उनका कहना है कि भुट्टो खानदान के पूर्वज वास्तव में जिला हिसार (हरियाणा) के भुट्टो नामक गाँव के निवासी थे । यह गाँव तहसील सिरसा के निकट सरस्वती नदी के तट पर था । कहते हैं कि पंजाब में सिखों के राज्य के समय तक इस नदी में पानी था, पर बाद में यह सूख गई । नदी सूख जाने पर इस खानदान के पूर्वजों को हिजरत करनी पड़ी । वे लोग सिंध की तरफ जाकर लड़काना में आबाद हो गए । जब अंग्रेजों का जमाना आया तब इस कबीले के सरदारों ने ईरान के खिलाफ अंग्रेजों का साथ दिया और सिन्ध में वे अंग्रेजों के परम विश्वस्त वफादार बन गए । इसकी एवज में अंग्रेजों ने भी उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें पुरस्कार में देकर मालामाल कर दिया ।

शाहनवाज ने अंग्रेजों की इस वफादारी का और भी फायदा उठाया। ब्रिटिश सरकार के संकेत पर वे रियासत जूनागढ़ के दीवान बनाए गए। रियासत के प्रशासन में अपने अंग्रेज आकाओं के हितों का उन्होंने खूब ध्यान रखा। अंग्रेजों ने भी खुश होकर उन्हें 'सर' का खिताब अता किया। अंग्रेजों की वफादारी का ही एक नतीजा यह भी निकला कि अपने बेटे को ऊँची शिक्षा दिलाने के लिए उसे अमरीका और इंग्लैंड भेजने की सुविधा उन्हें अनायास मिल गई।

१९२८ में जन्मे जनाब जुल्फी ने केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी में दाखिला लिया और वहां से राजनीति-विज्ञान में डिग्री ली। उसके बाद आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर वहां से एम. ए. किया और बैरिस्टरी पास की। साउथम्पटन यूनिवर्सिटी में वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के व्याख्याता भी बने। ब्रिटेन से लौट कर उन्होंने सिन्ध के चीफ कोर्ट में वकालत की प्रैक्टिस भी की।

अपनी जवानी के आलम में, खूब लाड़-प्यार में पले जनाब जुल्फिकार अली भुट्टो खासे आशिक मिजाज रहे हैं। विभाजन से पूर्व नरगिस, सुरैया; बिन्वो जान तथा अन्य अनेक प्रसिद्ध फिल्म-अभिनेत्रियों के निवास-स्थानों के चक्कर लगाते रहे हैं। विभाजन के पश्चात उनका पूरा परिवार लड़काना में ही सुस्थापित हो गया। जब सिकन्दर मिर्जा पाकिस्तान की राजनीति में चोटी पर पहुँचे तब सर शाहनवाज की अंग्रेज-परस्ती फिर काम आई। सर सिकन्दर से उनकी दोस्ती हो गई और सर सिकन्दर ने सन् १९५८ में अपने दोस्त के बेटे को पाकिस्तान के मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया। उस समय उनकी आयु सिर्फ ३० साल थी।

सन् १९५८ के बाद भुट्टो ने अपने राजनीतिक दांवपेंच जिस ढंग से चले उन्होंने के कारण वे धीरे-धीरे पाकिस्तान की राजनीति पर छाते चले गए। पाकिस्तान के शासक लगातार बदलते गए, पर भुट्टो हरेक के साथ अपनी गोटी बिठाते रहे। जब जनरल अयूब ने सिकन्दर मिर्जा को चलता कर दिया तो भुट्टो धीरे-धीरे अयूब की आंख के तारे बन गए। भुट्टो अयूब को 'डैडी' कहते और अयूब भुट्टो को स्नेह से 'जुल्फी' सम्बोधन करते। अयूब ने १९६३

में भुट्टो को विदेश मंत्री बना दिया तो भुट्टो की एक पुरानी आकांक्षा भी पूरी हो गई। वाद में 'हंडी' भी नहीं रहे—याह्या खां आ गए। भुट्टो तब भी वदस्तूर कायम पर १९७१ में पाकिस्तान की पूर्वी भुजा टूट गई, याह्या न पाकिस्तान को खण्डित होने से बचा सके, न अपने आपको। अन्त में भुट्टो को सत्ता सौंप कर वे कोहमरी के एकान्त कारावास में अपनी शेष जिन्दगी बिताने को बाध्य हो गए।

शिमला-समझौते के समय जनाब भुट्टो ने भारतीय पत्रकारों के समक्ष कहा था—'आप पसन्द करें या नहीं, आपको मुझे वरदाश्त करना पड़ेगा।' साथ ही उन्होंने यह भी ऐलान किया था कि अब कई साल तक हमें शासन से कोई डिगा नहीं सकता।

पर सन् ७७ का साल मोहभंग का साल रहा है—भारत में भी, पाकिस्तान में भी। एक में आम-चुनाव में गड़बड़ी न करने के कारण, और दूसरे में चुनाव में गड़बड़ी करने के कारण। तख्ते वाले तख्त पर आ गए और तख्त वाले तख्ते की इन्तजार करने लगे। भूगोल और इतिहास ने जिन्हें रक्त के सम्बन्ध से बांधा था, वे एक-दूसरे से कितना ही अलग होने की कोशिश करें, पर उनके लिए जो नियति नियत है, उससे बच नहीं सकते।

शायद इसी नए आत्मबोध ने भारत और पाकिस्तान की विचार-दिशा में मोड़ पैदा किया है। अखण्ड भारत के उपासक और शिमला समझौते के विरोध में प्रदर्शन का नेतृत्व करने वाले, कभी के विपक्षी नेता किन्तु आज के विदेश मंत्री, श्री अटल बिहारी वाजपेयी, फरवरी के शुरू में जब पाकिस्तान गए तो उनका ऐसा भावभीना स्वागत हुआ कि विभाजन के बाद और बंगला देश के निर्माण के बाद उसकी कल्पना करना कठिन था। अपने स्वागत भोज में जब श्री वाजपेयी ने इकबाल के कलाम से अपना भाषण समाप्त किया तो प्रत्येक पाकिस्तानी की हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे। अटल जी ने कहा था—

ठहरता नहीं कारवाने वजूद

कि हर लहजा ताजा है शाने वजूद।

समझता है तू राजे—जिन्दगी फकत जीके-परवाज है जिन्दगी।

बहुत उसने देखे हैं पस्तो-बलंद

सफर उसको मंजिल से बढ़कर पसंद ।
 सफर जिन्दगी के लिए है बगो-साज
 सफर है हकीकत
 हजर है मजाज ॥

—यह अस्तित्व का कारवां कभी ठहरता नहीं है, इसका हर क्षण अपनी ज्ञान में ताजा रहता है। क्या तू जिन्दगी का रहस्य समझता है? सिर्फ उड़ने के शौक का नाम ही जिन्दगी है। इस जिन्दगी ने बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं, इसीलिए इसे मंजिल से बढ़कर सफर पसन्द है। सफर ही जिन्दगी के पुष्प-फलकों का संगीत है, सफर ही वास्तविकता है, ठहरना तो महज भ्रम है।

क्या भुट्टो भारतीय नागरिक है—इस प्रश्न के उत्तर की तलाश में यहां तक पहुंच गए। सिर्फ भुट्टो ही क्यों, ऐसा कौन-सा पाकिस्तानी है जो मूलतः भारतीय नहीं है? क्या विभाजन के बाद का इतिहास ही सत्य है, उससे पहले का इतिहास नहीं? विभाजन से पहले हम-तुम-वे सभी तो भारतीय थे और भारतीयों से किस भारतीय की सहानुभूति नहीं होगी?

पांच पल की प्रलय

अमोर खुसरो की एक अनवृक्ष पहेली है—

उज्ज्वल अति वह मोती बरनी ।

पाई कंत दिए मोहि धरनी ॥

जहां धरी थी वहां न पाई ।

हाट बाजार सभी ढूँढ़ आई ॥

सुनो सखी अब कीजे क्या ।

पी मागे तो दीजे क्या ॥

काव्य-रसिक जन तुरन्त समझ जाएंगे कि इस पहेली का उत्तर है— ओला । मोती जैसे सफेद ओलों को देखकर वच्चे जिस उत्सुकता से उन्हें बीन-बीनकर खाने को लपकते हैं, उसके साथ इस शृंगार रस-मिश्रित पहेली की सार्थकता और सरसता और बढ़ जाती है परन्तु वही ओले जब खड़ी फसल को चौपट कर देते हैं तब सारा काव्य-रस भी चौपट हो जाता है ।

अभी हाल में स्वर्गीय श्री शंकरलाल की स्मृति में, दिल्ली में हुए एक मुशायरे में पाकिस्तान की लोकप्रिय शायरा परवीन शाकिर ने शेर पढ़ा था—

बादल को क्या खबर है कि बारिश की चाह में ।

कैसे बुझन्दो-बला शजर खाक हो गए ॥

—विचारा बादल क्या जाने कि वर्षा की उत्सुकता में प्रतीक्षा करते हुए कितने ऊँचे और पुख्ता पेड़ धाराशायी होकर मिट्टी में मिल गए । काव्य-रस तो इस शेर में भी है, पर खुसरो वाली वह शृंगारिक रुमानियत नहीं है । हां, व्यंजना का आश्रय लेकर आप इसमें नए राजनैतिक अर्थ तलाश कर सकते हैं ।

पर प्रकृति स्वयं न शृंगार-रस जानती है, न ही यह जानती है कि व्यंग्यार्थ क्या होता है। प्रकृति को बस अपने काम से काम। मानव-मन जब प्रसन्न होता है, तब उसे प्रकृति के रूप में रमणीयता दृष्टिगोचर होने लगती है और जब शोकाकुल होता है तब उसे प्रकृति भी शोक-मग्न दिखाई देने लगती है। अपने हृदय की संवेदना को ही मनुष्य प्रकृति पर प्रत्यारोपित करता है। यदि व्याध ने क्रौंच-युगल में से एक का वध न किया होता और क्रौंची ने अपने विलाप से दिक्षाएं न गुंजाई होतीं तो वाल्मीकि मुनि के मन को आन्दोलित कर डालने वाला शोक श्लोक बनकर न फूटता ('शोकः श्लोकत्वमागतः,—कालिदास), और न ही संसार में कविता का जन्म हुआ होता।

असल में जैसे जन्म और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, वैसे ही बसन्त और हेमन्त भी एक ही प्रकृति के दो रूप हैं। इन्हीं रूपों को मनुष्य अपनी सीमित दृष्टि के कारण कभी भयंकर और कभी रमणीय कहने लग जाता है। मृत्यु भी जन्म की तरह ही वरेण्य है—यह बात कहने सुनने में हृदय शून्यता, कठोरता, और अकवित्व की बोधक लग सकती है, पर जिस दिन तत्त्वज्ञान भी ठकुरसुहाती करने लग जाएगा—उस दिन सत्य को स्वयं अपनी अर्थी पर लेट कर चिर-विश्राम के लिए वाधित होना पड़ेगा।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह एक ऐसा गोला है जो आकाश में मुक्त रूप से लटका हुआ है और अपने ध्रुवीय अक्षों पर रोज घूमता हुआ यह गोला सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करता है। इसी घूमने से दिन, रात और वर्ष बनते हैं। साथ ही अक्षों पर पृथ्वी के २३ अंश तक झुके रहने के कारण ऋतुओं में नियमितता आती है और वृक्ष-वनस्पति इस पृथ्वी को हरा भरा बनाए रखते हैं।

वैज्ञानिक लोग यह भी बताते हैं कि इस पृथ्वी के ऊपर जीवन धारण करने में सहायक गैसों का आवरण काफी ऊंचा (लगभग ५०० मील) और इतना घना है कि वह प्रतिदिन गिरने वाली लगभग दो करोड़ उल्काओं के घातक प्रभाव से इस पृथ्वी को बचाए रखता है तथा तापमान को ऐसी सीमाओं में स्थिर रखता है कि प्राणी जीवित रह सकें और धरती की सिंचाई के

लिए समुद्रों से ताजा जलवाष्प की महत्त्वपूर्ण रसद दूरस्थ प्रदेशों तक पहुंच सके ताकि वे प्रदेश जीवन-शून्य रेगिस्तान मात्र न बन जाएं ।

यदि पृथ्वी का आकार चन्द्रमा जितना हो जाए, अर्थात् उसका व्यास वर्तमान व्यास से केवल चौथाई रह जाए, तो उसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति न वायुमण्डल को संभाल सकेगी और न पानी को और तब तापमान भी इतना बढ़ जाएगा कि जीवन धारण करना कठिन हो जाएगा ।

वैज्ञानिक यह भी बताते हैं कि यदि सूर्य से पृथ्वी की वर्तमान दूरी को दुगुना कर दिया जाए तो सूर्य से मिलने वाली गर्मी चौथाई रह जाएगी, अयन में घूमने का उसका वेग केवल आधा रह जाएगा, सर्दियों का मौसम दुगुना लम्बा हो जाएगा और सब प्राणी ठंड के मारे मर जाएंगे ।

यदि सूर्य से पृथ्वी की वर्तमान दूरी आधी हो जाए तो सूर्य से मिलने वाली गर्मी चौगुनी हो जाएगी, अयन में घूमने का वेग दुगुना हो जाएगा, ऋतुओं की लम्बाई आधी रह जाएगी और हमारा यह सारा ग्रह इतना गरम हो जाएगा कि सब प्राणी जल-भुन जाएंगे । इस समय पृथ्वी का जितना आकार है और सूर्य से जितनी दूरी है तथा अयन में घूमने का उसका जो वेग है, उसी के कारण पृथ्वी पर जीवधारियों का जीवन सम्भव है और तभी मानव-जाति शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक जीवन के वर्तमान आनन्दों का उपभोग कर सकती है ।

काव्यात्मक चर्चा के साथ विज्ञान की इस चर्चा का प्रयोजन यह है कि विश्व-नियन्ता ने समस्त विश्व को जिस अनुपम ढंग से सन्तुलित कर रखा है, मनुष्य अपनी खोजों से और निरन्तर बुद्धि के प्रयोग से उस ढंग को समझने भर का प्रयत्न कर सकता है, उसके रहस्यों की तह तक पहुंचने की क्षमता उसकी नहीं है । मनुष्य को गर्व-स्फीत करने का सबसे अधिक श्रेय यदि विज्ञान को दिया जा सकता है, तो मुक्तकण्ठ से यह भी स्वीकार करना होगा कि उस गर्व को खर्व भी जितना अधिक विज्ञान ने किया है, उतना अधिक और किसी चीज ने नहीं किया ।

प्रकृति चाहे भयंकर रूप धारण करे चाहे मनमोहक रूप, है तो विश्व-नियन्ता की चेरी ही । उसी के इशारों पर नाचने वाली । इसकी नृत्य-भंगिमाओं

के तत्व को समझने वाले कवीर जैसे फक्कड़ यही कह कर उस पर हावी रहते हैं—

ठगिनी क्या नैना भ्रमकावे ।

और अनभ्यस्त खिलाड़ी उस ठगिनी के इशारों के रहस्य को न समझने के कारण लुट जाते हैं, वरबाद हो जाते हैं ।

अपने 'अहं' में कहीं मानव स्वयं को ही संसार का संचालक न समझ बैठे और बार-बार ठोकर खाकर भी कहीं पुनः अधिनायकवाद की ओर अग्रसर न हो, इसलिए प्रकृति के माध्यम से एकाध भटका मानव-जाति को मिलता रहता है । कभी कहीं, कभी कहीं ।

ग्रान्ध प्रदेश में आए भयंकर चक्रवात की दहशत से अभी उभर भी नहीं पाए थे कि अचानक दिल्ली में दो बादल आपस में टकराए, कड़कड़ाती बिजली चमकी और ऐसा भयानक चक्रवात आया कि देखते ही देखते कुछ क्षणों में ३० व्यक्ति मर गए, एक हजार व्यक्ति घायल हो गए । सैकड़ों मकानों की छतें उड़ गईं, विना दरार के एक भी दीवार नहीं बची, कितने पेड़ और बिजली के खम्भे घराशायी हो गए—यह हिसाब लगाना अभी बाकी है । जरा उस अन्धड़ के वेग का अन्दाज तो लगाइये जिसमें यात्रियों से भरी भारी-भारी बसें उछल-उछल कर जमीन पर पटकनी खाती रहीं और तीन पहियों वाले स्कूटर तो तिनकों की तरह हवा में उड़ कर इधर-उधर गिरते रहे ।

प्रत्यक्षदर्शी कहते हैं कि प्रकृति का यह रुद्र रूप लगभग तीन मिनट (पांच पल) तक रहा । उसके बाद सब शान्त । दिल्ली के शेष हिस्सों में जरा-सी बूँदा-बाँदी और हवा का एक तेज भौंका-सा आकर रह गया । पर चार मील धीरे में तो इन पांच पलों ने साक्षात् प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया ।

बाजीगर अपना खेल दिखाने के लिए चारों तरफ कितना साज-सामान फैला देता है और कितनी भीड़ इकट्ठी कर लेता है ! पर जब अपना खेल समेट कर छोटी-सी थैली कंधे पर लटकाए वह एक ओर चल देता है, तब कोई अजनबी उसकी महिमा को नहीं जान सकता ।

उस लीलाघर के लिए सृजन जितना सहज है, प्रलय भी उतनी ही सहज है । सृष्टि और प्रलय दोनों ही उसकी लीला के अंग हैं—एक ही सिक्के के दो पहलू । दोनों ही उसकी महिमा के द्योतक हैं ।

कोयल से चमगादड़ तक

— श्रीतीक्ष्ण ओदाहकार

एक ज्योतिषी ने हाथ देखकर बताया था कि इतिहास पर शोध करो तो 'पद्म भूषण' पा सकते हो। भारत की राजनीति ने ज्योतिषियों की भविष्य-वाणी को असत्य सिद्ध करने का ठेका ले रखा है। ज्योतिषी महोदय को पहले ही आशंका थी, इसलिए वे तो यह दुर्दिन देखने से पहले ही चल बसे। पर शोध प्रबन्ध लिखा गया, सो लिखा गया। जनता सरकार ने आपातकाल के किसी भी महान कृतित्व और व्यक्तित्व को पुरस्कार से वंचित रखने के लिए पद्म भूषण आदि अलंकरण ही समाप्त कर दिए। एक राजनैतिक दल ने जैसे सब प्रश्नों का समाधान सड़कों पर ही तय करने का निश्चय किया है, वैसे ही वह शोध प्रबन्ध अब होली के अवसर पर जनता-जनार्दन के न्यायालय में उपस्थित है।

विषय प्रवेश—भारत एक महान देश है। उसकी संस्कृति उससे भी महान है। पर उसका इतिहास लिखने वाले निरे 'सूरदास' सिद्ध हुए हैं। उनको बुद्धि का इतना अजीर्ण हो गया है कि वे पारस्परिक मतभेद को ही अपनी सबसे बड़ी उपलब्धि मानते हैं। 'मुण्डे मुण्डे' मतिभिन्ना, और 'तुण्डे तुण्डे सरस्वती' की कहावत उन्हीं पर लागू होती है। कोई कहता है कि विधमियों से स्वधर्म को और अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए अनवरत प्रयत्न ही गत एक सहस्र वर्ष का इतिहास है। कोई इस काल को पूँजीपतियों और शासकों द्वारा गरीब जनता के सम्मिलित शोषण का नाम देता है। विदेशियों द्वारा आर्थिक और राजनैतिक शोषण भी उसी के अन्तर्गत आ जाता है। कुछ कहते हैं कि गत कुछ सौ वर्षों में 'कम्पोजिट कलचर' की कम्पोस्ट खाद पर एक नयी संस्कृति पनपी है। ये सब इतिहासकार अपनी पूर्वाग्रह-युक्त विचार-

शृंगला के प्रतिबद्ध हैं। हमारी स्थापना है कि कोयल पर बुलबुल की विजय ही भारत का सच्चा सांस्कृतिक इतिहास है।

प्रमाण भाग—(क) कोयल सैकड़ों-हजारों सालों से इस विशाल देश के वनों और उपवनों में कूकती रही। जनता और उसके प्रतिनिधि कवि उसकी आवाज पर रोझते रहे। कोयलिया की तान पर उनकी हृदय वीणा के तार भङ्कृत होते रहे। कोयल का स्वर सुनकर विरहिणी अपने परदेसी प्रियतम की सुघ में बेसुध होती रही और परदेसी प्रियतम के कलेजे में उसकी कूक अपनी पिकवैनी मृगनैनी के अभाव की ठूक जगाती रही। बसन्त के आगमन का तो लक्षण ही कोयल बन गई। नहीं तो कौआ भी काला और कोयल भी काली, दोनों में भेद ही क्या था ! परन्तु—

प्राप्ते बसन्त समये

४

काकः काकः पिकः पिकः ।

—ज्यों ही बसन्त आया कि कोयल और कौए का भेद स्पष्ट हो गया। संस्कृत के (और हिन्दी के भी) कवि तो कोयल पर इतने लट्टू हुए कि न जाने कितनी अन्वोक्तियां उसी को लेकर लिखी गईं। बसन्त आ जाए और कोयल की कुहू के स्थान पर कौआ की कांव कांव सुनाई देने लगे, तो संस्कृत का कवि कहेगा ही—

रे रे कोकिल या भज मौनं किञ्चिदुच्चरय पञ्चमरागम् ।

नो चेत्त्वामिह को जानीते काक कटम्बकापिहिते वृक्षे ।

—अरी कोयलिया ! तू चुप कैसे बैठी है ? कुछ तो बोल, अपना पञ्चम राग सुना। नहीं तो तुझे कौन जान पाएगा ! इस आम के पेड़ पर चारों ओर कौए ही कौए बैठे हैं। तू चुप रही तो लोग तुझे भी कौआ ही समझेंगे। हिन्दी के कवि जब कहते हैं—‘कवि ! कुछ ऐसी तान सुनाओ’ तो कवि के बहाने से वे कोयल को ही सम्बोधित करते हैं। सारांश—कोयल भारत के कवियों का प्राण है।

(ख) बुलबुल—भारत के कवि आत्मरति में इतने लीन रहे कि उन्होंने बुलबुल को अपने पास तक नहीं फटकने दिया। भारतीय अभिजात-वर्ग ने चीन से चीनोशुक (रेशम) ग्रहण किया, भारतीय ज्योतिर्विदों ने अरब देशों

ने होराशास्त्र ग्रहण किया, आम जनता ने तुर्की भाषा के कुर्ता-कमीज शब्द भी ग्रहण कर लिये, पर भारतीय वाग-वगीचों को बुलबुल रास नहीं आई।

जो मुगल बादशाह भारत के सत्ता-प्रतिष्ठान के अधिष्ठाता बन कर बैठे थे, पहले उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक उपादानों से तालमेल बिठाने में ही कल्याण समझा। भारतीय कमल का सौरभ, भारतीय कोयल की कुहू ध्वनि, भारतीय रसालों का रस और भारतीय पूर्वजों की शौर्य-गाथाएं उनको भी खूब भाई। पर शस्य-श्यामला भूमि के सब रसों का उपयोग करके भी जब उन्हें अपने मूल मरु प्रदेश की गरिमा सताने लगी, तब भीम और अर्जुन के स्थान पर सोहराव और रुस्तम आ गए। आम के स्थान पर खजूर आ गया। कमल के स्थान पर नरगिस आ गई और कोयल के स्थान पर बुलबुल आ गई।

राजनीति का असर कवियों पर भी पड़ा और तब नासिख जैसे शायरों ने शायरी में से हिन्दी और संस्कृत के शब्दों का ही नहीं, भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध सभी उपादानों का भी वहिष्कार प्रारम्भ कर दिया। नासिख ने बड़े गर्व से कहा था—

इस्पहां हमने किए हैं कूचहाए लखनऊ।

—वे लखनऊ के गली कूचों को फारस के गली कूचे बनाने पर तुल गए और उसके बाद से उर्दू की शायरी में से कोयल का ऐसा वहिष्कार हुआ कि सर्वत्र बुलबुल का ही राग सुनाई देने लगा। भारतवासी भी—

सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा।

हम बुलबुलें हैं उसकी बह गुलसितां हमारा ॥

इत्यादि के द्वारा अपने आपको बुलबुल कहने में गर्व अनुभव करने लगे। इसके बाद तो ऐसा समय आया कि 'भारत-कोकिलाओं' को 'बुलबुले हिन्दो' ने पछाड़ दिया।

जहां तक शैरो-शायरी का सवाल है, चाहे कोयल रहे, चाहे बुलबुल, शायद बहुत अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि कविता में भाव का ही महत्व अधिक है पर अब तो बुलबुल इस सांस्कृतिक दौड़ में कोयल से इतना आगे बढ़ गई कि कव्वालियों से और अपनी अदाओं से जनता का मन मोहने वाली चिर-

कुमारी (!)...वेगम भी 'बुलबुले-हिन्द' के खिताब से मुशोभित होने लगी हालांकि इस बुलबुल की असलियत पर भी एक शायर ने फब्ती कसी है—

मालूम है हमें सब बुलबुल तेरी हकीकत ।

एक मुश्त उस्तख्वां पर दो पर लगे हुए हैं ॥

—अरी बुलबुल ! हम तेरी सारी वास्तविकता जानते हैं । मुट्ठी भर हड्डी पर दो पर लगे हुए हैं, बस यही न !

सो जनाव, भारत का गत सैकड़ों वर्षों का इतिहास कोयल पर बुलबुल की विजय का इतिहास है ।

शोध प्रबन्ध का मुख्य कथ्य तो यहां समाप्त हो जाता है पर विना परिशिष्ट के शोध प्रबन्ध कैसा ? इसलिए प्रबन्ध लिखे जाने के पश्चात् जो नई खोजें हुई हैं, उनका उल्लेख भी आवश्यक है ।

परिशिष्ट (१)—आधुनिक युग के लेखकों और कवियों को न कोयल से मतलब है, न बुलबुल से । उनकी दृष्टि में ये दोनों दकियानूसी पक्षी हैं, एकदम कालातीत, इसलिए उनकी नित्य नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने अपनी कविताओं में इन दोनों के स्थान पर अन्य दो प्राणियों को चुना है । उनमें से एक है—वैशाखनन्दन और दूसरा है लक्ष्मीवाहन

गणेश की तरह काव्य के प्रारम्भ में जब तक वैशाखनन्दन की स्तुति न हो, ('मेरे प्यारे मुकुमार गये !') तब तक मंगलाचरण पूरा नहीं होता, और काव्य की समाप्ति पर जब तक किसी लक्ष्मीवाहन की (साथ में चित्र हो तो और भी अच्छा !) स्तुति न हो काव्य सार्थक नहीं होता । काव्य प्रकाश के उद्भट प्रणेत श्री मम्मट कह ही गए हैं—'काव्यं यशसेऽर्थकृते' (जिस काव्य से यश और अर्थ न मिले, वह व्यर्थ है (व्यर्थ = वि + अर्थ) यों वैशाखनन्दन शोषित किन्तु शिकायत शून्य जनता का सच्चा प्रतिनिधि है, इसलिए जनवादी कवि कहलाने का इससे अच्छा उपाय क्या हो सकता है कि अपनी कविता-कामिनी को गर्दभराज की सवारी कराई जाए ।

रहे लक्ष्मीवाहन ! उनसे बच कर जाने का भी रास्ता कहां है ! जिधर भी निकलो—आँखों के आगे वही तो नजर आते हैं—'हर शाख पे बूदम बैठे हैं ।' हां, एक ही शर्त है, जिस तरह लक्ष्मीवाहन को केवल रात में ही दिखाई

देता है, दिन में नहीं, उसी तरह इन लक्ष्मीवाहनों की स्तुति भी उन्हीं को फलती है जिनकी आंखें अन्धकार में भी काम कर सकती हैं।

परिशिष्ट (२)—ठहरिये ! जिस तरह कोयल और बुलबुल पुराने पड़ गए, उसी तरह इस शोध प्रबन्ध के प्रेस में जाते-जाते वैशाखनन्दन और लक्ष्मीवाहन भी पुराने पड़ गए। अब एक सर्वथा नए प्राणी उभर कर सामने आए हैं। वे हैं—स्वनामधन्य श्री चमगादड़। संस्कृत में इन्हें 'वाग्गुद' कहा गया है—अर्थात् जिनके वाणी और मल निकालने का स्थान एक ही है। जब लोग गाली-वर्षा को भी पुष्प-वर्षा समझते हैं, उस होली के अवसर पर वाणी और मल के मेल का प्रतीक यह प्राणी भी कैसा अद्भुत है ! चमगादड़ जानवर भी है, पक्षी भी है—वह अवसर पड़ने पर दोनों में अपने आपको गिनवाने को तैयार रहता है। लक्ष्मीवाहन का दिवान्धपना भी उसमें बरकरार है। विचारा दिन भर पुराने खंडहरों में सोया रहता है। इसके अलावा आजकल के राजनीतिक दल-बदलुओं पर जितना फिट यह पक्षी बैठता है, उतना फिट और कोई नहीं बैठता। अगर ऐसे दल-बदलुओं की चले तो वे चमगादड़ को ही भारत का राष्ट्रीय पक्षी घोषित करने की मांग कर बैठें तो कोई आश्चर्य नहीं।

('देवता : कुर्सी के' नामक पुस्तक)

ऊधो ! जोग जोग हम नाहीं

किसी विद्यालय की प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ने वाले किसी बालक से यदि आज पूछा जाए कि गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की खोज किसने की थी तो वह तुरन्त अत्यन्त उत्साह के साथ न्यूटन का नाम ले देगा परन्तु यदि उसे बताया जाए कि इस सिद्धान्त की खोज न्यूटन से पहले हो चुकी थी और वह खोज करने वाला एक भारतीय था, तो वह दांतों तले अंगुलि दबाकर कहेगा कि हमें तो हमारे गुरुजी ने वही पढ़ाया है। निश्चय ही, जो कुछ उसे पढ़ाया गया है, उसके विपरीत लिखने पर उसे परीक्षा में फेल होना पड़ेगा।

उस बालक की बात छोड़ें, आज शिक्षा-जगत के अधिकांश मनीषी विद्वान भी न्यूटन के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति को गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की खोज का श्रेय देने वाले को शायद शिक्षितों की कोटि में नहीं गिनेंगे ! पर सत्य यह है कि जिस प्रकार अशिक्षित ग्रामीण जनता परम्परा से कुछ अन्वविश्वासों की शिकार रहती चली आई है, उसी प्रकार आज का शिक्षित समुदाय भी परम्परा से कुछ मिथ्याविश्वासों को पाल रहा है।

न्यूटन से भी लगभग हजार साल पहले (५२८ ई.) भारत में एक ज्योतिषी पैदा हुआ जिसका नाम था—ब्रह्मगुप्त। उसने केवल तीस साल की आयु में एक ग्रन्थ की रचना की थी जिसका नाम था—‘ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त।’ इस ग्रन्थ में उसने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का वर्णन किया है, इसलिए इस सिद्धान्त की खोज करने वाला संसार का सबसे पहला वैज्ञानिक ब्रह्मगुप्त है, न्यूटन नहीं। आज कितने शिक्षाविज्ञ इस बात को जानते या मानते हैं ! इतना ही नहीं, ब्रह्मगुप्त ने गैलीलियो से सैकड़ों साल पहले पृथ्वी के चपटे

होने की धारणा का खण्डन करके उसे गोलाकार सिद्ध किया था। संसार में सबसे पहले शून्य की धारणा भी उसी ने प्रस्तुत की थी और उसकी विभिन्न क्रियाओं का सोदाहरण वर्णन किया था। यह बात विचित्र लग सकती है कि ब्रह्मगुप्त से पहले किसी भी भारतीय या पाश्चात्य गणितज्ञ ने शून्य के विविध उपयोगों का और उसके स्थान तथा मूल्य का प्रतिपादन नहीं किया। इस प्रकार शून्य संसार को भारत की ही देन है—इसी के साथ दशमलव पद्धति भी।

इतना ही क्यों, १, २, ३, ४ आदि अंकों के द्वारा गणना करने की पद्धति भी संसार को भारत की देन है। ये अंक पहले भारत से अरब देशों में गए और अरबों ने इनका नाम ही 'हिन्दसा' रख दिया जो खुले बन्दा इस बात की घोषणा थी कि ये अंक हिन्द से आए हैं। उसके बाद रोम के लोगों ने अपनी गणना-पद्धति को दूषित और अपर्याप्त पाकर अरब देशों से इन अंकों का ज्ञान प्राप्त किया और रोम से फिर ये अंक यूरोप में गए, तो वे रोमन अंक कहलाए। विधि की विडम्बना देखिए कि जो रोमन अंक मूलतः भारतीय अंक ही हैं (यहां अभिप्राय उनकी आकृति और लिखावट से नहीं है—अंकों की आकृति में तो समयानुसार भारत में भी परिवर्तन होता रहा है), वे ही रोमन अंक आज अपने इसी नाम से भारत की छाती पर इस तरह मूंग दल रहे हैं कि समस्त सरकारी कामकाज में उन्हीं की पूछ है, भारतीय अंकों की नहीं। अंग्रेजी में रोमन अंकों का प्रयोग हो, इसमें किसी को आपत्ति नहीं परन्तु हिन्दी की पुस्तकों में भी उन्हीं का प्रयोग हो, हिन्दी के टंकणयन्त्रों में से भारतीय अंक पद्धति का सर्वथा बहिष्कार ही कर दिया जाए, यह विचित्र स्थिति है।

उस विचित्र स्थिति की विडम्बना तब और बढ़ जाती है जब यह सरकारी आदेश सामने आता है कि किसी भी वाहन पर सिवाय रोमन लिपि के अक्षरों के और रोमन अंकों के और किसी भाषा के अक्षरों या अंकों का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

निस्सन्देह, भारत जैसे बहुभाषी देश में एकरूपता लाने के नाम पर उक्त आदेश का समर्थन किया जाएगा और कदाचित् अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान-धारा से

अपने आपको एकाकार करने के नाम पर भी उसकी बकालत की जाए, पर आज अचानक इस विषय पर लेखनी मुड़ जाने का कारण कुछ और है ।

असल में हम शोर निर्यात का मचाते हैं, पर प्रेम आयातित से करते हैं । भारतीय वेश, भारतीय भाषा, भारतीय कला-कौशल और भारतीय ज्ञान-विज्ञान—इन सब का निर्यात करने की भावना से हमारे अहं की तुष्टि होती है—कि हां हम भी संसार को कुछ देने लायक हैं पर हमारे मन में अपनी ही उस विरासत के प्रति आदर-भावना तब पैदा होती है जब विदेश में उसे प्रतिष्ठा मिलती है । हमारा अहं और हमारी मानसिक दासता—दोनों साथ-साथ चलते हैं । हमारी यह मानसिक दासता इस हद तक पहुंच गई है कि स्वयं अपनी शक्ति भी हमारी पहचान में तब तक नहीं आती जब तक हम पश्चिम की नजर से, पश्चिम के शीशे में, उसे नहीं आंक लेते ।

यही लीजिए न—योग जैसी निर्यात योग्य वेशकीमती जिन्स हमारे पास सदियों से छिपी पड़ी थी—और हम अंधेरे में थे । अचानक पश्चिम से उसकी मांग उठी, उसका मूल्यंकन हुआ, तो हमें भी लगा कि हमारी गुदड़ी में तो लाल छिपे हैं और हमें पता भी नहीं । जैसे भारतीय अंक अरब देशों से होते हुए रोम गए, और वहां से यूरोप गए, और वहां से लौट कर फिर हम पर छा गए, वैसे ही योग अब उसी प्रक्रिया में से गुजर रहा है । जो योग पहले दकियानुसी, देहाती, अबोध लोगों को ठगने के उपाय और जंगलों और पहाड़ों के एकान्त स्थानों में तपस्या और साधना के साथ जुड़ा था, अब वही योग यूरोप से 'योगा' बन कर आया है । शानदार बड़े होटलों में या महानगरों के महा-रइसों की कोठियों में ठहरता है, हवाई जहाजों में सफर करता है, विदेशी युवक और युवतियों के कन्वे पर हाथ रखकर चलता है और जब भारतीय संस्कृति की दुन्दुभि दिग्दिगन्त में गुंजाने का राग अलापता है तो सत्ता प्रतिष्ठान भी उस 'योगा' से आशीर्वाद लेने को लपकता है । न योग विदेश जाता, न उसमें आ की मात्रा लगती, न उसमें यह चमत्कार पैदा होता । वैयाकरण लोग कहते हैं—

अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः ।

आधी मात्रा भी कम करने का कहीं अवसर मिल जावे तो व्याकरण के

८८ देवता : कुर्सी के

पण्डित घर में पुत्र का जन्म होने जैसी खुशी मनाते हैं। व्याकरण के पण्डित तपस्या करते-करते मात्रा घटाने में लगे रहे, पर यहां एक मात्रा के विस्तार ने योग को कहां से कहां पहुंचा दिया।

अभी शाह् आयोग के सामने एक योगी के आश्रम की चर्चा आई है। वह आश्रम, मैदानों की गर्मी से परे, जम्मू-कश्मीर की सुरम्य शीतल घाटी में बनाया गया था। आश्रम क्या था—संगमरमर का विलास-प्रासाद था। संगमरमर के स्नानागार, संगमरमर की पाकशाला, आयातित क्राकरी, बिजली के उपकरण, विदेशी कमरे और दूरबीक्षण यंत्र, तरणताल, शिकार खेलने के लिए बन्दूकें, साथ ही हवाई अड्डा और आने-जाने के लिए स्पेशल निजी हवाई जहाज। जब तक सिर्फ 'योग' था, तब तक इस साज-सज्जाम की जरूरत नहीं थी, पर 'योगा' बनते ही यह सब जरूरी हो गया। तभी तो न्यायमूर्ति श्री शाह् ने कहा था—'योग के उच्चतर अध्ययन के लिए यह सब आवश्यक है।' भले ही यह बात उन्होंने व्यंग में कही हो, पर हमें तो गोपियों द्वारा उद्धव के प्रति कही गई सूरदास की यह उक्ति याद आए बिना नहीं रहती—

जोगकथा, पा लागों, ऊघौ ना कहूँ वारम्बार ।

सूर स्याम तजि और भजै जो ताकी जननी छार ॥

हम तो बिना योग के अपने श्याम के भजन में ही मस्त हैं।

यह रइशों के चोचलों वाला 'योगा' पश्चिम वालों को मुबारक हो। हम भारतीय तो उस योग के योग्य हैं ही नहीं—

ऊघो ! जोग जोग हम नाहीं ।

* *

जिन्दगी को दास्तां ही दास्तां समझा था मैं

आजकल अपने देश ने औद्योगिक क्षेत्र में जितनी तरक्की कर ली है उसी का यह परिणाम है कि विभिन्न देशों को औद्योगिक वस्तुओं का निर्यात बढ़ता जा रहा है। खासकर अविकसित देशों में भारतीय औद्योगिक क्षमता की और तकनीकी प्रतिभा की अच्छी मांग है। पर एक समाचार पढ़कर आश्चर्य हुआ। दुबाई के शेख ने भारत से एक टन घास मंगाई है। इस घास की कीमत यद्यपि अधिक नहीं है। सिर्फ १५०० रु. परन्तु हवाई जहाज से जाने का इसका किराया मूल वस्तु की कीमत से कई गुना ज्यादा है। पन्द्रह सौ रु. की चीज का किराया लगोगा सत्रह हजार रु.।

प्रश्न यह है कि आखिर भारतीय घास में ऐसी क्या विशेषता है कि दुबाई के शेख की उस पर कृपा-दृष्टि हो गई। खाड़ी के अमीरात और अरब देशों में पेट्रोल ने सचमुच तरल सोने का काम किया है और इससे वे माला-माल हो गए हैं। एक शेख तो गत वर्ष अपने अनुचर-परिजनों के साथ वम्बई आये थे, सिर्फ यह देखने के लिये कि वर्षा कैसी होती है, और हजारों रुपया खर्च करके वर्षा का आनन्द लेकर लौट गए।

सऊदी अरब में पेय जल की कठिन समस्या है, इसलिए वे भारत से पीने का पानी मंगाने की भी बात कर रहे हैं। पर घास ? हां दुबाई के शेख ने घास मंगाई है और साथ में घास लगाने के विशेषज्ञ दो माली भी, जो शेख के प्रासाद के साथ लगे मैदान को भारत की घास से हरा भरा बनाएंगे।

हो सकता है, घास को हीन समझने की दृष्टि में इस समाचार से अन्तर आ जाए और हम भारतीय भी अपने पांवों तले पड़ी इस घास को कुछ

सम्भ्रम की दृष्टि से देखने लगे—आखिर अब यह भी विदेशी 'मुद्रा' अर्जित करने का साधन बन गई। 'अक्ल के घास चरने' के मुहावरे के अर्थ में भी शायद कुछ अन्तर आ जाए और यह भी सम्भव है कि घास चरने वाले प्राणी विशेष किसी दिन डेपुटेशन बनाकर भारत सरकार से मांग करें कि घास का निर्यात बंद किया जाए या घास के निर्यात से होने वाली आय में हमको भी 'शेयर' दिया जाए ! पर ये सब अभी दूर की कल्पनाएं हैं।

दूर्वा-दल हमारे यहां पवित्र वस्तु मानी गई है। श्रावणी पर रक्षाबंधन के समय पुरोहित अपने यजमानों की कलाई में दूर्वा की ही राखी बांधते हैं। भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की अष्टमी को 'दूर्वाष्टमी' नाम का त्यौहार ही अलग से मनाया जाता है जिसमें दूर्वा की देवी की तरह पूजा की जाती है। यों भी दूर्वा के साथ अनेक व्रतों और व्रत कथाओं का सम्बन्ध जुड़ा है परन्तु दुबाई के शेख ने दूर्वा के माहात्म्य को जो नया आयाम दिया है, उसका कारण यह प्रतीत होता है कि किसी भाषा विज्ञानी ने शेख को बता दिया है कि दुबाई वस्तुतः 'दूर्वायी' का विकृत रूप है, और अकस्मात् शेख का प्रेम भारत की इस दूर्वा के प्रति उमड़ पड़ा है।

आजकल क्षणिकाओं का युग है और क्षणिकाओं में भी जापान की हाइकु नामक कविता की शैली का प्रचार बढ़ता जा रहा है। प्रतिभा वेदज्ञ की एक छोटी-सी क्षणिका है—

दूर्वा-दल सा मन सुख-दुख मृगशावक
भरते कुलाचें अविराम।

बंगला कवि तारा प्रसाद दास ने एक छोटी-सी हाइकु लिखी है—
पाता पड़े ना जल भरे न आज
तुमि कोथाय।

—एक पत्ता भी नहीं गिर रहा न वर्षा है आज, कहाँ हो तुम ?

सिन्धी कवि सत्यानन्द जावा ने लिखा है—

तू मुंभी हयाती
हिक गाल पूछा, चौ
हयाती घणांड़ी !

—तू मेरी जिन्दगी, पर पूछूँ एक बात, बोलो—जिन्दगी कितने दिन !
और फिर जैसे अपने ही प्रश्न का हिन्दी में यों उत्तर दिया है—

बूढ़े पेड़ के गले-सड़े ठूँठ से
कौपल फूँटी ।

आखिर दूर्वा क्या है—एक तरह की कौपल ही तो है । भले ही बूढ़े पेड़ का गला-सड़ा ठूँठ कहीं दिखाई नहीं देता, पर दूर्वा का एक-एक दल, घास की एक-एक पत्ती—नित्य नए जीवन की शुरूआत की सुन्दर क्षणिका ही तो है ।

पर घास में हमें एक और विशेषता भी दिखाई देती है । गुरुनानक कह गए हैं—

नानक नन्हें हवै रहो जैसे नन्हें घास ।

नन्हें घास की तरह नन्हा बनने का जबर्दस्त लाभ यह है कि जब भयंकर आंधी या चक्रवात आते हैं, तब बड़े-बड़े पेड़ धराशायी हो जाते हैं, पर नन्हें घास ज्यों की त्यों मुस्कराती रहती है । बड़े-बड़े महारथी पेड़ अपनी अकड़ में मारे जाते हैं और पृथ्वी को श्री-हीन करने का दम भरते हैं, पर विचारी नन्हें दूब अपनी सहज विनम्रता के कारण हरे मखमली कालीन से वसुधा को श्रृंगारित किए रहती है ।

विनम्रता में ही असली बड़प्पन है, इस तत्त्व को भूल कर बड़े लोग जिस चीज में बड़प्पन देखते हैं, शायद उसी को लक्ष्य करके कबीर ने अपनी मर्म भरी वाणी में कहा है—

फूटी आंख विवेक की लखे न संत असंत ।

जाके संग दस-बीस हैं ताका नाम महंत ॥

लोकतंत्र में जिस 'लोक' शब्द का उल्लेख है, उसका अर्थ भीड़ नहीं होता । लोकतंत्र को भीड़तंत्र समझना गलत है । जिनकी विवेक की आंख फूट गई है, वे अपने जैसे लोगों की भीड़ इकट्ठी करके आगजनी, पत्थरबाजी और छुरेबाजी के माध्यम से स्वयं लोकतंत्र में पलीता लगाते हैं और फिर स्वयं को लोकतंत्र का महन्त घोषित करके लोकतंत्र की समाप्ति पर आंसू बहाते हैं । कभी-कभी ये महन्त बाहरी सुन्दरता का ऐसा खोल ओढ़ लेते हैं कि चतुर लोग भी धोखा खा जाते हैं । शायद गोस्वामी तुलसी दास ने उन्हीं को लक्ष्य करके लिखा है—

तुलसी देखि सुवेष भूलहि मूढ़ न, चतुर नर ।

सुन्दर केकहि पेख वचन सुधा सम असन अहि ॥

सुन्दर वेष को देखकर मूर्ख ही नहीं, चतुर मनुष्य भी धोखा खा जाते हैं । सुन्दर मोर को देखो, उसका वचन तो अमृत के समान है, पर उसका आहार सांप है ।

हां घास की बात करते-करते घास में छिपे सांप तक आ गए । यही सांप शैतान का रूप है । इसी सांप ने आदम और हव्वा को बरगलाया था । इसी सांप ने ज़िगर मुरादाबादी के शब्दों में यह स्थिति पैदा कर दी है—

बो आलम है अब यार ओ अगियार कैसे

हमीं अपने दुश्मन हुए जा रहे हैं ।

—कि मित्र और शत्रु की बात ही छोड़ो, हम स्वयं अपने दुश्मन हुए जा रहे हैं ।

हमने घास को जीवन की लहलहाती हरीतिमा के रूप में देखा था, पर

जिन्दगी निकली भुसलसल इम्तिहां-दर-इम्तिहां ।

जिन्दगी को दास्तां ही दास्तां समझा था मैं ॥

पार्वती और पर्वत

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के बालकाण्ड में लिखा है। सती ने मरते हुए प्रभु से वर मांगा कि जन्मजन्मान्तर तक मेरा अनुराग शिव के चरणों में बना रहे। इसी कारण हिमवान के घर में पार्वती के रूप में उसका जन्म हुआ और जब से उमा ने जन्म लिया तब से सब ऋद्धि-सिद्धियाँ हिमालय की ओर दौड़ पड़ीं। जहाँ-तहाँ मुनियों ने अपने आश्रम बना लिये और हिमालय ने भी उनके निवासयोग्य सब सुविधाएँ जुटा दीं। सुन्दर शैल पर नाना जातियों के वृक्ष-वनस्पति पैदा हो गए और वे फल-फूलों से लद गए। इतना ही नहीं, नदियों में पवित्र शीतल जल बहने लगा। खग-मृग-मधुप सब सुखी हो गए। वहाँ अकाल-मृत्यु समाप्त हो गई। सब स्वस्थ और नीरोग रह कर अपनी सहज आयु भोगने लगे। पर्वतराज से सब का अनुराग जाग उठा। पर्वतराज का घर भी गिरिजा के जन्म लेने से वैसे ही धन्य हो उठा, जैसे राम-भक्ति के जन्म लेने से जीवन धन्य हो उठता है। जिसका यश ब्रह्मा आदि सभी देवता गाते हों उसके घर में नित-नूतन मंगल क्यों नहीं होगा।

गोस्वामी जी के इस पौराणिक आख्यान में हिमालय सम्बन्धी किसी पुरातात्विक और ऐतिहासिक घटना का आलंकारिक आलेख छिपा है या नहीं, यह कहना कठिन है क्योंकि पुरातत्वज्ञ विन्ध्याचल की अपेक्षा हिमालय को अर्वाचीन मानते हैं और उनकी धारणा है कि पहले हिमालयवर्ती समग्र भूखण्ड जलमग्न था और प्राकृतिक विपर्यय के परिणामस्वरूप वह प्रदेश धीरे-धीरे ऊँचा उठता गया और अन्त में इतना ऊँचा उठ गया कि वह सारे संसार का सबसे ऊँचा पर्वत बन गया। सम्भव है, जब हिमालय पर मानव-सृष्टि

६४ देवता : कुर्सी के

प्रारम्भ हुई उस समय का आलंकारिक उल्लेख शिव और पार्वती की कथा के रूप में किया गया हो !

जो हो, व्याकरण की दृष्टि से 'पार्वती' शब्द का अर्थ ही 'पर्वत की पुत्री' (पर्वतस्यापत्यं-पार्वतीः, स्त्री चेत्, पार्वती) है। यों पर्वत-निवासिनी या पर्वत में जनमी सभी स्त्रियों को पार्वती की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है और कैलाश-पति शिव तो साक्षात् हिमालय के अधिष्ठाता देव ही नहीं, महादेव हैं। कवियों और चित्रकारों ने कैलाश और हिमालय को अकसर समाधिस्थ शिव के रूप में चित्रित किया है। चारों ओर फैले विशाल हिम-नदों और सर्वोच्च हिम-शिखरों से भण्डित यह पर्वतराज हिमालय क्या है, मानो हिम-श्वेत श्मश्रु-कूर्च से मण्डित और तुषार-ववल जटा-जूट में शोभायमान शिव नामक कोई विराटकाय महास्थविर योगिराज ध्यानावस्थित है ! कितनी भव्य कल्पना है ! और शिवालक पर्वत-श्रेणी को 'शिवालक' क्या इसीलिए नहीं कहते कि वह शिव की अलकों की तरह शीर्षस्थ शिखरों के नोचे पार्वत्य उपकण्ठ में छائی हुई है !

जब शिवजी वरात लेकर पार्वती को ब्याहने चले तो उनके विलक्षण वेष को देख कर सब देवांगनाएं हंसने लगीं कि इस अनोखे वर के योग्य दुल-हिन कहाँ मिलेगी—

देखि सिवहि सुरतिय मुसुकाहि ।

वर लायक दुलहिन जग नाहि ॥

आज की आदिम पहाड़ी जातियों के वेष-विन्यास को देखकर मैदानी नगरों में बसने वाली ललनाएं इसी प्रकार कह सकती हैं ! कोई गद्दी यदि अपने मूल पहाड़ी वेष में किसी कन्या का पाणिग्रहण करने के लिए दिल्ली में आ निकले तो राजधानी की भद्रवर्गीय महिलाएं उस पर ऐसी ही तो फंती कसेंगी ! बहरहाल, गद्दी और गद्दिनें आज भी अपने आपको शिव और पार्वती के बेटे-बेट्टी मानने में गर्व अनुभव करते हैं।

कांगड़ा की धौलाधार उपत्यका में शिव-पार्वती के इन बेटे-बेट्टियों की बस्तियां आज भी विद्यमान हैं। धौलाधार को एक सुन्दरी के रूप में चित्रित करते हुए पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के सुपुत्र पं० योगेन्द्र शर्मा गुलेरी ने अपनी पहाड़ी बोली की कविता में लिखा है—

बहले दा भूँड कड़ी धारोवारा पल्ला छड़ी ।

खड़ी धौलाधार लगै जियां बांकी नार ऐ ।

बर्फी दे गहणे पाई, सूरजे दी बिन्दी लाई ।

सारयां दे मनै भाई भागसु दा प्यार ऐ ॥

—बादलों का धूँध निकालकर, पर्वत श्रेणियों को आंचल की तरह फैला कर खड़ी धौलाधार ऐसी लगती है जैसे कोई रूपवती स्त्री, बर्फों के गहनों से सजी, माथे पर सूरज की बिन्दी लगाए, सबके मन को मोह रही हो । तभी तो इसे भागसू का प्यार मिला है ।

कांगड़ा का ही एक लोकगीत है—

गोरी दा चित्त लग्या चम्बे दियां धारां ।

घर-घर चकरू, घर घर बकरू

घर घर मौज बहारां । घर घर टिकलू, घर घर बिदलू

घर घर बांकियां न नारां ।

—गोरी का चित्त तो चम्बा की पर्वत श्रेणी से लगा है—जहां घर-घर में चक्की (पनचक्की) है, घर घर में भेड़-बकरी है, घर घर में मौज बहार है, घर घर में टिक्का (माथे का आभूषण) है, घर घर में बिदिया है और घर घर में बांकी नार हैं ।

इसी प्रकार का एक और लोक गीत है जिसमें अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम छलका पड़ता है—

सारियां देसां बिचो देस कांगड़ा लगदा असां जो पियारा ।

पाणी हवा सारे देसे रो ठंडी पैर पठानकोट

कनै सिर इदा मंडी

दक्खणे च वसरा हमीरपुर उत्तरे च धरमशाला जो

चीलां दे वड़े जंगल इसी च दुधे दौड़ां दे डंगर इदे च

वैजनाथ चौमंडा दा मंदर बजमेसरी चित्तपुरनी दा मंदर

ज्वालामुखी जीआ मंदर इदे च आसापुरी जेई धारा हो

सारियां देसां बिचो देस कांगड़े दा लगदा असां जो पियारा हो ।

—सारे देशों में कांगड़ा अच्छा है, हमें तो वह प्यारा लगता है । यहाँ

का पानी और हवा ठण्डी है। इसका पांच पठानकोट और सिर भण्डी है। दक्षिण में हमीरपुर है, उत्तर में धर्मशाला है। इसमें चीड़ों के जंगल हैं, दूध-दही देने वाले पशु हैं। ब्रजनाथ, चामुंडा, ब्रजेश्वरी, चित्तपूरनी और ज्वाला-मुखी के मन्दिर इसी में हैं। यह पर्वत शृंखला तो आशा पुरी जैसी है। कांगड़ा सब देशों में अच्छा है, हमें तो वही प्यारा लगता है।

हिमालय प्रकृति का रम्य क्रीड़ास्थल है। यहां के बर्फ से ढके ढाल और पर्वत दूर-दूर तक फैले प्यार और बुग्याल, हरे-भरे चीड़, देवदार, बांज और बुरांस के सघन वन, उनकी छाया में बसे छोटे-छोटे गांव, सीढ़ियों की भांति उठते खेत, पर्वत की कटि से लिपटी सरिताएं और फूलों की हरी-भरी घाटियां—न जाने ये सब हिमालय में कितने विराट सौन्दर्य को अपने में समेटे हैं जिनकी अनुभूति वहां के लोक-मानस को असंख्य रंगों में रंग देती है और उसकी वाणी को हृदय को छूने वाली रहस्यमय आत्मीयता की पुलक में भर देती है।

भारतीय मनीषा को पुलक से भर देने वाले, शिव और पार्वती के क्रीड़ा-स्थल बने विराट हिमालय का एक अंग है हिमाचल। हिमाचल को अलग राज्य का रूप ग्रहण किए ३० वर्ष गुजर गए और इसी १५ अप्रैल को उसने अपना ३१वां स्थापना दिवस मनाया है। इन वर्षों में हिमाचल ने विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रगति की है, उसके उल्लेख का यह स्थान नहीं। पर इतना उल्लेख किए बिना नहीं रहा जाता कि २६ जनवरी, १९७८ से हिमाचल प्रदेश ने अपने मुख्यमंत्री के दृढ़ संकल्प स्वरूप प्रशासन के सभी स्तरों पर पूरी तरह हिन्दी में कामकाज करने का जो व्रत लिया है वह अन्य हिन्दीभाषी राज्यों के लिए अनुकरणीय है।

अन्त में हिमालय-प्रेमी श्री नेहरू के इस उद्धरण से बात समाप्त करें—
'मैं देखकर आश्चर्य और हर्ष से भर गया। जंगलों से लदे पहाड़ों के ऊपर बड़ी दूर पर बर्फीली चोटियां चमक रही थीं। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिए, भारत के ये सन्तरी बड़े शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से मन में एक शान्ति छा जाती थी और उनकी सनातनता के आगे जनपदों और नगरों के हमारे छोटे-छोटे द्वेष और संघर्ष, विकार तथा प्रपंच अत्यन्त तुच्छ लगते थे।' *

तुमने तो खैर बेवफाई की

पुराने जमाने में राजा में देवताओं का बास माना जाता था । मनुस्मृति में तो स्पष्ट ही लिखा है कि राजा में इन्द्र, यम, वरुण, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, कुबेर और ब्रह्मा का अंश विद्यमान रहता है । नारदीय संहिता में जो वस्तुएं पूजा की पात्र बताई गई हैं, उनमें आठवां स्थान राजा का है, इसीलिए नीति-कारों ने कह दिया—

महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति ।

—मनुष्य के रूप में राजा महान् देवता है ।

कुछ तो यह प्राचीन संस्कार कुछ प्रभुता का मद और कुछ 'राजा कालस्य कारणम्—राजा ही काल का कारण है—परिस्थितियों का निर्माता और अधिष्ठाता है—इस प्रकार की उक्तियों का परिणाम यह हुआ कि राजतंत्र समाप्त हो जाने पर भी, जनता के आशीर्वाद से सत्तासीन होने वाला शासक अपने आपको कुछ कुछ दिव्य गुणों का अधिकारी अनायास मान बैठा । सागर निजामी का एक शेर है—

जुनूने-खुदी का ये ऐजाज देखो ।

कि जब मौज आई खुदा हो गए हम ॥

—अहम्भन्यता का यह कैसा चमत्कार है कि जब मन में तरंग आई तब हम अपने आपको खुदा समझने लगे ।

शासक बन जाने पर जो विशेषाधिकार अनायास प्राप्त हो जाते हैं उनमें एक विशेषाधिकार बुद्धिजीवियों को उपदेश देने का भी है । हमारे राजनीतिक कर्णधार अध्यापकों की सभा में गुरु-शिष्य की परम्परा के निर्वाह का उपदेश देंगे और बुद्धिजीवियों कभी सा में उन्हें लोकतन्त्र का स्तम्भ बताते हुए जनता

के पथ-प्रदर्शन की सलाह देंगे। लेखकों और पत्रकारों को निर्भय होकर सत्य और न्याय का पक्ष लेने के लिए प्रेरित करेंगे, त्याग और तपस्या का उपदेश देंगे और स्वयं अपने आचरण से क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए नैतिकताविहीन जोड़-तोड़ से समाज विरोधी परिस्थितियों का निर्माण करेंगे। गोस्वामी जी ने कहा है—

कसे कनक मनि पारिख पाएं।

पुरुष परिविर्भाहि समय सुभाएं।

—सोना कसौटी पर कसे जाने पर और रत्न (मणि) जौहरी के हाथ में आने पर ही परखा जाता है, वैसे ही पुरुष की परीक्षा भी समय पड़ने पर ही होती है।

पिछले दिनों कुछ मन्त्रियों ने पत्रकारों को इस बात के लिए लताड़ा है कि आपातकाल में जैसे उनके मेरुदण्ड में लचक आ गई थी, वैसे ही, अब जब अभिव्यक्ति पर कोई अंकुश नहीं है, तब भी वे सरकार को सही मार्ग दिखाने के बजाय वर्तमान शासकों के दरबार में सुविधाएं पाने की आशा में हाथ बांधे खड़े रहते हैं।

बुद्धिजीवी किसको कहते हैं, हम इस बहस में नहीं पड़ेंगे। हरेक मसिजीवी लेखनीजीवी और ब्रह्मजीवी 'बुद्धिजीवी' की ही कोटि में आता है, यह कहना कठिन है। हो सकता है कि इनमें से कुछ लोग ऐसे भी हों जो भाग्यवश बुद्धिजीवी के पेशे में पड़ गए हों और अपने व्यावसायिक अभ्यास के कारण उस पेशे का निर्वाह किए जा रहे हों, पर अपनी बुद्धि से उसमें कोई नया चमत्कार पैदा करने की आजन्म कभी कोशिश न की हो। प्राचीन भारत में बुद्धिजीवी या पण्डित का कैसा दर्जा था, इसका आभास महाकवि भर्तृहरि के इस श्लोक से मिलता है—

अधिगत परमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थाः।

तृणमिव लघुलक्ष्मीः नेव तान् संरुणद्भिः।

अभिनवमदलेखा-श्याम गण्डस्थलानो

न भवति विसतन्तुः वारणं दारणानाम् ॥

—हे राजन् ! परमार्थ के पथिक पण्डितों की अवमानना मत करो। तृण

के समान तुच्छ तुम्हारा यह धन का अम्बार उनके रास्ते का रोड़ा नहीं बन सकता। मद की अभिनव रेखा से जिनके गण्डस्थल श्यामवर्ण के हो गए हैं उन हाथियों को भला कहीं कमलनाल के तन्तु रोक सकते हैं ?

पर जिस युग के बुद्धिजीवियों का यह वर्णन है, वह युग अब नहीं रहा। आज का बुद्धिजीवी भी सुविधाजीवी पहले है। यों भी कागज पर स्याही फैलाते रहने से किसी का पेट नहीं भरता। पर बात बुद्धिजीवियों की उतनी नहीं है, जितनी राजनीतिजीवियों की है। राजनीति-जीवी प्रशासक भी तो अपने चारों ओर ऐसे बुद्धिजीवियों का जमघट लगाना पसन्द करते हैं जो चारण और भाट ही अधिक होते हैं, बुद्धिजीवी कम। आखिर अशोक, विक्रमादित्य, भोज और अकबर के दरबार के नवरत्न विदूषक या भांड नहीं थे। नीतिकार स्पष्ट कह गये हैं—

सचिव, वैद, गुरु तीन जाँ प्रिय बोलहि भय आस।

राज वर्म तन तीनि कर होई बेगिहि नास ॥

—सचिव वैद्य और गुरु—ये तीनों यदि भय या किसी प्रलोभन के कारण केवल ठाकुर-मुहाती करते रहेंगे तो राज्य का, धर्म का और तन का नाश होते देर नहीं लगती। पर राजनीतिजीवियों की यह आदत पड़ जाती है कि विरोधी विचार वालों को वे सहन नहीं कर पाते, जबकि ईमानदार असहमति लोकतंत्र का आधार है, इसलिए अपने चारों ओर एकत्र चटुल चाटुकारों को ही बुद्धिजीवियों में अग्रगण्य मानने की, उन्हें प्रश्रय देने की, तथा तरह तरह से पुरस्कृत करने की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है। वे यह नहीं देख पाते कि ऐसे बुद्धिजीवी भी हो सकते हैं जो देश को, दल से या व्यक्ति से—फिर वह व्यक्ति कितना ही बड़ा क्यों न हो—बड़ा मानते हैं और दलीय आग्रह से मुक्त होकर समाज हित और देश हित की बात सोच सकते हैं। यदि बुद्धिजीवियों को इस प्रकार की भूमिका निभाने का अवसर नहीं मिलेगा तो लोकतंत्र के पथभ्रष्ट हो जाने की सम्भावना बनी रहेगी। धीरे-धीरे बुद्धिजीवियों में भी यह 'मंथरावादी' धारणा पनपती जाएगी—

कोउ नृप होइ हमहि का हानी।

चेरि छांड़ि न होइव रानी ॥

कहते हैं कि चीनी दार्शनिक लाओत्से जब स्वर्ग पहुँचे तो कुछ देवदूतों ने

१०० देवता : कुर्सी के

उन्हें घेर लिया और उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे। एक देवदूत ने पूछा—
‘मनुष्य बड़ा है या देवदूत ?’, लाओत्जे ने गम्भीरता से भूमि की ओर ताकते हुए उत्तर दिया—‘तुम्हारे’ प्रश्न में अहंकार झलक रहा है। यों तो मनुष्य देवता बनने के लिए तरसता है और देवदूत मनुष्य बनने के लिए, क्योंकि दोनों ही एक के दूसरे पूरक हैं। मनुष्य के भीतर तो देवदूत रह सकता है, लेकिन देवदूत के भीतर मनुष्य नहीं रह सकता क्योंकि देवदूत के भीतर ऊपर से नीचे तक बड़प्पन का इतना अहंकार भरा रहता है कि उसमें मनुष्यता के लिए स्थान ही नहीं रहता।

फिर भी अभी न बुद्धिजीवी इतना निराश हुआ है, न ही राजनीतिज्ञ।
दोनों को दोनों से आशाएं हैं। अस्तर शीरानी का एक शेर है—

मिट चले मेरी उम्मीदों की तरह हर्फ मगर।

आज तक तेरे खतों से तेरी खुशबू न गई ॥

जब तक खतों की यह खुशबू बाकी है तब तक आशा को तिलांजलि कैसे दी जा सकती है। शायद बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ दोनों ही एक दूसरे से मन ही मन फिराक के शब्दों में कह रहे हैं—

हमसे क्या हो सका मुहब्बत में ?

तुममे तो खैर बेवफाई की ॥

गुड़ की मिठास

हिमालय का वर्णन करते हुए कवि-कुल-गुरु कालिदास ने कहा है कि हिमालय अनन्त रत्नों की खान है। यद्यपि उसमें चारों ओर हिम का साम्राज्य है परन्तु इससे उसके सौभाग्य का विलोप नहीं होता। यदि किसी में गुणों का ढेर हो तो एकाग्र दोष उनमें वैसे ही छिप जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक। 'कुमार सम्भव' के जिस श्लोक में यह बात कही गई है, वह यों है—

अनन्तरत्न प्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्

एको हि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाकः ॥

कवियों में कालिदास का जितना मान है, उसे देखते हुए यह कल्पना नहीं होती कि कोई अन्य कवि इस सर्वोच्च कवि की बात को काटने की हिम्मत भी करेगा परन्तु एक कवि ने ऐसी हिम्मत की है। उसने कालिदास का नाम तो नहीं लिया पर विज्ञानों को यह संशय नहीं रहता कि उसने कालिदास को ही मुंहतोड़ जवाब दिया है। उसने लिखा है—

एको हि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो वभाषे।

न तेन दृष्टं कविना समस्तं दारिद्र्यमेकं गुणराशिनाशि ॥

—गुणों के ढेर में एक दोष वैसे ही छिप जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक—यह बात जिस कवि ने कही है उसने यह नहीं देखा कि कभी-कभी एक दोष ही इतना हावी हो जाता है कि सब गुणों पर पर्दा डाल देता है—जैसे दरिद्रता का एक ही दोष गुणों की राशि को नष्ट कर देता है।

दरिद्र से कोई प्रेम नहीं करता और धनियों से सब प्रेम करते हैं, इस सम्बन्ध में संस्कृत के एक कवि की अन्योक्ति है—

न विद्यया न कुलेन गौरवं जनानुरागो धनिकेषु सर्वदा ।

कपालिना मौलिधृतापि जान्हवी प्रयाति रत्नाकरमेव सत्वरम् ॥

—लोग न किसी की विद्या को मान देते हैं, न किसी के कुल को, हाँ धन के पीछे अवश्य आँख बन्द कर दौड़ते हैं । जन्हुसुता गंगा को ही देखो—कपाली महादेव ने उसे सदा सिर पर चढ़ाकर रखा, पर वह वहाँ टिकी नहीं—वहाँ से निकल कर समुद्र की ओर दौड़ पड़ी, क्योंकि महादेव दरिद्र थे और समुद्र रत्नाकर था, रत्नों की खान था ।

जब सावकों और योगियों की प्रिय नदी, अपने तट पर सदा तपस्वियों का जमघट लगाए रखने वाली, भगवती भागीरथी का यह हाल है, तब विष्णु-पत्नी लक्ष्मी का क्या हाल होगा ? उसके लिए भी एक अन्योक्ति हाजिर है—

हालाहलो नैव विषं विषमा जनाः परं व्यत्ययमय मन्वते ।

निपीय जागर्ति सुखेन तं शिवः स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः ॥

—हालाहल यदि कुछ है तो वह विष नहीं है, बल्कि लक्ष्मी है । लोग इसका उल्टा समझते हैं, पर ऐसा है नहीं । इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि शिव जो हालाहल विष पीकर भी सुखपूर्वक जागते रहते हैं और विष्णु लक्ष्मी का स्पर्श पाकर ही निद्रा में मूर्छित हो जाते हैं ।

लक्ष्मी के स्वभाव के बारे में एक अन्य कवि की उक्ति है—

शूरं त्यजामि वैधव्यात् उदारं लज्जया पुनः ।

सापत्न्यात् पण्डितमपि तस्मात् कृपणमाश्रये ॥

—लक्ष्मी कहती है कि मैं शूरवीर को इसलिए छोड़ देती हूँ कि रणक्षेत्र में उसके खेत हो जाने पर विधवा हो जाने का भय है, उदार व्यक्ति को इसलिए छोड़ देती हूँ कि वह सदा सब कुछ औरों के लिए लुटाता रहता है, उसकी इस प्रवृत्ति से मुझे लज्जा लगती है, पण्डित को इसलिए छोड़ देती हूँ कि उसके घर में पहले से ही सरस्वती का राज है—मुझे उसकी सौत होकर रहना ही पड़ेगा, इसलिए अन्त में मैं कृपण व्यक्ति का आश्रय लेती हूँ—जहाँ/इनमें से एक भी भय नहीं है ।

कृष्ण के पास लक्ष्मी क्यों जाती है—इसका एक समाधान उक्त कवि ने दिया है। पर धन के पीछे चेतन प्राणी ही नहीं, जड़ पदार्थ भी लगे रहते हैं। इसका प्रमाण एक अन्य कवि ने दिया है—

दुन्दुभिस्तु सुतरामचेतनः तन्मुखादपि धनं धनं धनम् ।

इत्थमेव निनदः प्रवर्तते किं पुनर्यदि जनः सचेतनः ॥

—नगाड़ा तो बिल्कुल जड़ है पर उसके मुख से भी धन-धन-धन की ही शब्द सुनाई देती है। फिर यदि चेतन प्राणियों के मुख से भी धन-धन-धन ही सुनाई दे तो क्या आश्चर्य है ?

धन के पीछे जड़ चेतन सब पड़े रहते हैं तो उसका कुछ कारण भी होना चाहिए। मुख्य कारण यह है कि धन को सुख का साधन माना जाता है पर क्या धन सचमुच सुख का साधन है ? उसका उत्तर भी आपको कवि ही देगा। कवि का कहना है—

अर्थानामर्जने दुःखमजितानां च रक्षणे ।

आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थः कष्टसंश्रयाः ॥

—धन कमाने में दुःख, कमाकर रखे धन की रक्षा में दुःख, आय हो तो दुःख, व्यय हो तो दुःख, धन तो सुख का कहां केवल दुःख का हेतु है, इसलिए धन को धिक्कार है।

पर धन को धिक्कारने से भी न धन की महिमा कम होती है, न धनवान् की। दोनों अपने स्थान पर अटल हैं। धन को धिक्कारने वाले भी धन की महिमा से अपरिचित नहीं हैं और धन के पीछे अपनी सारी जित्दगी गला देने वाले भी उसके कष्टकारी पहलू से अपरिचित नहीं हैं। धनवान् की क्या स्थिति होती है, इसके लिए भी एक कवि की ही उक्ति सुनिए—

यथामिधं जले मत्स्यैः भक्ष्यते द्वापदैर्भुवि ।

आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥

—जैसे मांस को जल में मछलियां नहीं छोड़तीं, भूमि पर हिसक जन्तु नहीं छोड़ते और आकाश में पक्षी नहीं छोड़ते, वैसे ही सब स्थानों पर धनवानों की गति होती है। उन्हें जल-स्थल और आकाश में कहीं भी पीछा करने वालों से छुटकारा नहीं। अब विचारा धनवान् कहां जाए ?

भगवान् की बहुत कुछ वैसी ही स्थिति होती है जैसे गुड़ की। कहते हैं कि एक बार अपनी जिन्दगी से परेशान होकर गुड़ भगवान् के दरबार में शिकायत करने पहुँचा। गुड़ ने करबद्ध होकर विनयपूर्वक कहा—‘भगवान् ! मैं बहुत परेशान हूँ। गरीब मुझे खाते हैं, अमीर मुझे खाते हैं। बच्चे मुझे खाते हैं, बूढ़े मुझे खाते हैं। युवक मुझे खाते हैं, युवतियाँ मुझे खाती हैं। आदमी मुझे खाते हैं, जानवर मुझे खाते हैं। गाँव वाले मुझे खाते हैं। शहर वाले मुझे खाते हैं। सारी वसुन्धरा पर कहीं कोई मेरी व्यथा सुनने वाला नहीं है, इसलिए अब आपकी शरण में आया हूँ। आप अशररशरण हैं—जिनकी कहीं सुनवाई नहीं होती उनकी आपके दरबार में ही सुनवाई होती है। हे दीनबन्धु ! करुणा सिन्धु ! मुझे इन भक्षकों से बचाइए। पाहिमाम्, रक्ष माम् !!’

भगवान् ने दत्तचित्त होकर गुड़ की व्यथा-कथा सुनी। उसकी दीन-दशा देखकर करुणानिधि का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने अपनी आँख उठाकर देखा तो गुड़ को अपने चरणों के निकट साष्टांग दण्डवत् करते पाया। कुछ देर तक भगवान् गुड़ की इस मुद्रा को देखते रहे और फिर स्वस्थ-चित्त होकर बोले—‘गुड़ देवता ! तुमने जो दुनियाँ भर की शिकायत की है, वह शिकायत तो ठीक है, पर इसमें सारा दोष तुम्हारे मीठेपन का है। न तुममें इतनी मिठास होती, न सब तुम्हारे पीछे पड़ते। अब आगे जो बात करनी हो, वह थोड़ा परे हट कर करो। तुम्हें देखकर मेरे मुँह में पानी आने लगा है।’

पर गुड़ क्या अपनी मिठास छोड़ सकता है ?

न गुड़ की मिठास छूटे, न मिठास के चस्के वालों से गुड़ छूटे।

आँख का अंधा गाँठ का पूरा

बिल्वमंगल गा रहे हैं और चिन्तामणि मुग्ध होकर सुन रही है—

पलक ओट नहीं होत लुनाई ।
घर गुरुजन बहुते विधि आसत,
लाज करावत, लाज न आई ।
नैन जहां दरसत तुमि अटकी,
सवन थके सुनि वचन सुहाई ।
रसना और नहीं कछु भाषति,
चिन्तामणि रट इहें लगाई ।
चित्त चंचल संगहि संग डोलत
लोक-लाज-मरजाद मिटाई ।
मन हरि लियो तोर छवि तब ही
तन बपुरे को कहा बसाई ॥

—यह सुन्दरता भी कैसी अद्भुत है जो पल भर के लिए भी पलकों की ओट नहीं होती । घर-परिवार वालों ने और गुरुजनों ने तरह-तरह से डराया-धमकाया, लाज दिलाई, पर लाज नहीं आई । आँखें सदा तुम्हारे दर्शन में ही अटकी रहती हैं और कान तुम्हारी वाणी सुनते कभी थकते नहीं । रसना दिन रात चिन्तामणि-चिन्तामणि की ही रट लगाती रहती है, और कुछ बोलती ही नहीं । चंचल चित्त सदा संग-संग डोलता रहता है, उसने लोक-लाज और लोक-मर्यादा सब भुला दी है । जब से तुम्हें देखा है तभी से तेरी छवि ने मन हर लिया है, इस विचारे तन को तो अब पूछता ही कौन है !

चिन्तामणि को अपने रूप-लावण्य का कितना ही गुमान क्यों न रहा हो,

और भारत की मुगलकालीन राजधानी—आगरा—भले ही उसकी लुनाई पर मर-मिटने को तैयार रही हो, पर स्वयं चिन्तामणि मरती थी बिल्व-मंगल पर।

बिल्वमंगल भले ही चन्दवरदाई के वंशज रहे हों और उनके पिता रामदास अकबर के दरबार के प्रसिद्ध गायक रहे हों, पर प्रेम का यह कैसा विचित्र रूप है कि उसके सामने धन-दौलत, यश और मर्यादा सब ओछे पड़ जाते हैं। एक बार चिन्तामणि ने अकबर के भरे दरबार में बिल्वमंगल द्वारा रचित यही 'पलक ओट नहि होत लुनाई' पद राग धनाश्री में गाकर सुनाया तो सारा दरबार मुग्ध होकर रह गया और शहंशाह ने सोने की एक लाख मोहरें इनाम में दीं। बिल्वमंगल चिन्तामणि का इतना दीवाना कि पिता के स्वर्गवास का समाचार पाकर वह घर गया और पिता की अन्त्येष्टि करके शाम होने तक फिर वापिस चिन्तामणि के पास आ गया।

और जब चिन्तामणि ने इस भोले मतवाले प्रेमी को दुत्कार दिया, अपने घर से धक्के देकर बाहर निकाल दिया, तो यही बिल्वमंगल निराशाग्रस्त होकर कृष्ण की शरण में आया और अन्त में महाकवि सूरदास के रूप में अमर हो गया। जिस बिल्वमंगल ने 'लुनाई' के पीछे भागने वाली आंखों को ही समस्त अनर्थ की जड़ मानकर उन्हें सृष्टि से छेद कर अन्धत्व का वरण कर लिया, और लोक-व्यवहार में 'सूरदास' और 'अन्धा' दोनों पर्यायवाची शब्द बन गए, उस सूरदास के मानसिक अर्न्तद्वन्द्व और हृदय की अथाह व्यथा की कल्पना ही की जा सकती है।

जब प्रभु बल्लभाचार्य और सूरदास की भेंट हुई और श्री बल्लभाचार्य ने हरि का कुछ यश वर्णन करने को कहा, तब सूरदास की मानसिक व्यथा ही तो इन पदों में प्रकट हुई थी—

हरि, हीं सब पतितन को नाथक ।
को करि सकै बराबरि मेरी,
ओर नहि कोऊ लायक ।

आ—

प्रभु ही सब पतितन को टीकी ।

और पतित सब दिवस चारि के हौं तो जनमत ही कौ ।

तब श्री बल्लभाचार्य ने इस निराशाग्रस्त प्रेमी को प्रभु के सामने धिधियाने, अपने आपको पापी समझने की भावना से अहर्निश दग्ध होने और दास्यभाव की आत्महीनता की ग्रंथि से निकाल कर भक्ति का वह स्वरूप समझाया जिसमें भक्त भगवान् के समक्ष पूर्ण आत्म-समर्पण करके सत्यभाव से भक्ति करना है, भक्त और भगवान् में तादात्म्य स्थापित हो जाता है और भक्त उस लीलाघर की लीला में इतना रम जाता है कि सिवाय आनन्द के वहाँ कुछ शेष नहीं रहता—

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः

—तब वहाँ न शोक रहता है, न मोह, केवल आनन्द ही शेष रहता है। भक्त की यही जीवन्मुक्तावस्था है। यही लौकिक प्रेम का उदात्तीकरण है। शायद आध्यात्मिक दृष्टि से यही ज्ञाननेत्र का उन्मीलन है—यही भगवान् त्रिपुरारि का तृतीय नेत्र है जिससे कामदेव तो दग्ध हो जाता है किन्तु विषुद्ध प्रेम अवशिष्ट रहता है। इस 'तीसरी आँख' के बिना प्रभु का साक्षात् दर्शन नहीं होता। एक शायर ने कहा है—

उल्टी ही चाल चलते हैं आबारगाने-इश्क ।

आँखों को वन्द करते हैं दीदार के लिए ।

लगता है, इश्क के दीवाने उस सूरदास ने भी 'दीदार' के लिए ही अपनी बाहर की आँखें बन्द कर लीं और जो सौंदर्य चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता था उसे उसने आँखें खोकर पा लिया, और तो और, आँखें खोकर सूरदास ने जिन आँखों को पाया, उसे अन्य कवि आँखें रखते हुए भी नहीं पा सके। उदाहरण के लिए—'निसि दिन वरसत नैन हमारे', 'नैना भये अनाथ हमारे', 'नैना हाथ न मेरे आली', 'नैना नैननि मांझ समाने', 'सखि इन नैननि तैं बन हारे', 'पलक ओट नहि होत कन्हाई', 'हरि देखैं बिनु कल न परै', 'जा दिन तैं हरि दृष्टि परे री',—जैसे पद पढ़ कर देखिए और यह सोच-सोच कर सिर घुनते रह जाइए कि ये पद उस व्यक्ति ने लिखे हैं जिसकी आँखें नहीं थीं।

शायद तीसरी आँख खुलने का ही परिणाम था कि सूरदास को श्रीकृष्ण

की बाललीला की वे सूक्ष्म से सूक्ष्म छटाएं भी दिखने लगीं जो अन्य कवियों को नहीं दिखीं और इस कवि ने वात्सल्य-रस की ऐसी मोहक सृष्टि की कि संसार की किसी भाषा में उसका जोड़ नहीं। जब इस वात्सल्य-रस के साथ संगीत और भक्ति भी मिल गई, तभी यह कहावत प्रचलित हुई—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास

अबके कवि खद्योत सभ जहं तहं करत प्रकाश ;

कहते हैं कि गोवर्धन में रहकर सूरदास ने भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर 'सूरसागर' की रचना की थी। वहीं महाकवि तुलसीदास अपने छोटे भाई नन्ददास (प्रसिद्ध कृष्ण भक्त कवि) से मिलने आए तो श्रीनाथ जी के मन्दिर में सूरदास का कीर्तन सुनने पहुँचे। दोनों महाकवि एक दूसरे को बांहों में भर कर भेंटे। तुलसी राम भक्त थे, पर सूर की कृष्ण भक्ति से इतने प्रभावित हुए कि इस भेंट के फलस्वरूप उन्होंने कृष्ण गीतावली भी लिखी जिसमें उनके कृष्ण-भक्ति के पद संकलित हैं।

अब से पाँच सौ साल पहले संवत् १५३५ में सूरदास का ब्रजभूमि पर अवतरण हुआ था और तब से व्यतीत होते हुए काल के साथ उनका काव्य-सौरभ और कीर्ति-चन्द्रिका उत्तरोत्तर वृद्धि पर है।

दिल्ली की ही सूर-जयन्ती के अवसर पर होने वाली एक सभा का स्मरण आ रहा है। उस सभा में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त भी उपस्थित थे। गुप्तजी अपनी सभा-भीरुता के लिए प्रसिद्ध थे परन्तु जब श्रोताओं ने बहुत आग्रह किया तो मंच पर आकर उन्होंने केवल एक वाक्य बोला और वापिस अपने स्थान पर जाकर बैठ गए। वह वाक्य था—

एक आँख का अन्धा,

पर गाँठ का पूरा,

तुम्हें मिल गया है,

उसे जन्मजन्मान्तर तक

लूटे जाओ, खाए जाओ।

वह 'आँख का अन्धा और गाँठ का पूरा' कैसा था जिसके बारे में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था—

सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि !

कोथा तुमि पेये छिलै एइ प्रेम छवि !

कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेमगान ।

—हे मेरे वैष्णव कवि ! सच सच बताओ—तुमने यह प्रणय-माधुरी कहां से उड़ाई और ये प्रेम भरे गान कहां से सीखे ?

जब विश्व कवि ही सूर की इस प्रणय-माधुरी का रहस्य नहीं जान सके तो हम और आप तो कहां से जानेंगे ।

वैशाली का आह्वान

आचार्य गुणभद्र ने राजा सिद्धार्थ के नन्दावर्त प्रासाद का ऐसा हृदयग्राही वर्णन किया है कि मन ठगा-सा रह जाता है। वह सप्तसौधी प्रासाद था। उसके प्रत्येक खण्ड में रत्न और मणिमाणिक्य की पच्चीकारी थी। फर्श स्वर्ण खचित था और खम्भे मणियों से जड़े थे। छतें पारदर्शी थीं और और अलंकृत गदाक्षों की छटा अनुपम थी।

इसी से मिलता जुलता वर्णन कवि आसंग ने किया है—इस प्रासाद के परकोटे में अर्णव वर्ण की मणियाँ और हरित वर्ण के पन्ने जड़े हुए थे, जिनके प्रतिबिम्ब से परिखा का जल ऐसे आलोकित होता रहता था, जैसे वहाँ विविध वर्णी संध्या का स्थायी निवास हो। रात्रि में रत्नदीपों से प्रकाशमान वह प्रासाद ऐसा प्रतीत होता था जैसे शत शत सूर्य चमक रहे हों। उसके प्रत्येक कक्ष में हंसतूलिका से सुशोभित रत्नपर्यंक बिछे थे। ऐसे ही एक पलंग पर सोते हुए प्रियकारिणी त्रिशला ने एक सुखावह स्वप्न देखा जिसका सुफल था तीर्थ-कर भगवान् महावीर का जन्म। सिद्धार्थ इन्हीं महावीर के पिता थे। उनकी राजधानी थी कुण्डग्राम। सिद्धार्थ का राजप्रासाद ही नहीं, पूरा कुण्डग्राम ही इतना वैभव-सम्पन्न था कि उसकी शोभा किसी अमरावती से कम नहीं थी।

वैशाली गणराज्य में जो आठ कुल सम्मिलित थे उनमें से एक—जातुकुल—का प्रतिष्ठित स्थान था कुण्डग्राम। जब कुण्डग्राम की इतनी श्री और शोभा थी, तब वैशाली की समृद्धि का क्या कहना। राँकहिल ने वैशाली को तत्कालीन भारत का समृद्धतम नगर बताते हुए लिखा है कि वैशाली के तीन भाग थे और प्रत्येक भाग में सात हजार मकान थे जिन पर सोने के गुम्बद थे। मध्य भाग में चाँदी के गुम्बदों वाले मकान थे और तीसरे भाग के भवनों पर ताम्रकलश सुशोभित थे।

‘अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा’ में वैशाली की समृद्धि का वर्णन करते हुए लिखा है—वैशाली श्रद्धस्फीता (समृद्धिवैशाली), बहुजना (मनुष्यों से आकीर्ण) और सुभिक्षा (अन्नादि से भरपूर) थी। उसमें ७,७७७ प्रासाद थे, इतने ही कूटागार, इतने ही उद्यान और इतनी ही पुष्करिणियाँ।

महावीर के लगभग बारह सौ वर्ष पश्चात् जब चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग ने वैशाली की यात्रा की थी, तब भी वह कई मील में फैली हुई थी और वह बाग-बगीचों, सरोवरों, चैत्यों विहारों और राजप्रासादों के सौंदर्य से भरपूर थी।

इसी वैशाली के सौन्दर्य से अभिभूत होकर महात्मा बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य आनन्द से कहा था—‘आनन्द ! यदि तुमने इन्द्रपुरी न देखी हो तो वैशाली देखो। यहां के निवासी देवसदृश हैं। यहां की गण-परिषद् देव-परिषद् है।’

एक बार महात्मा बुद्ध ने वैशाली में चतुर्मास व्यतीत किया था, तब भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा था—

ये संभिक्षवे । भिक्षुने देवा तावतिसा आदिवा । अलोकेथ भिक्षवे ।
लिच्छविनी परिसं, अवलोकेथ । भिक्षवे लिच्छवी परिसरं । उपसंहरथ भिक्षवे ।
लिच्छवे ! लिच्छवी परिसरं तावतिसा सदसंति ॥

—देखो भिक्षुओ, देखो—लिच्छवियों की परिषद् को, भिक्षुओ ! देखो लिच्छवियों की परिषद् को । इसे देव-परिषद् समझो, भिक्षुओ !

भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए बुद्ध कितने पुलकित और भाव-विभोर थे, एवं उनके मन में लिच्छवियों की इस गण-परिषद् के लिए कितना मान और मोह था, यह उक्त सन्दर्भ की शब्दावलि से ही प्रकट हो जाता है ।

प्रश्न यह है कि तथ्यागत का जन्म हुआ कपिलवस्तु में, पर उनका मन वहां नहीं रमा । उस समय और भी अनेक राजा थे, राज्य भी अनेक थे, पर बुद्ध की इस प्रकार की प्रशस्ति का सौभाग्य और किसी राज्य को नहीं मिला ।

इसका मूल कारण केवल एक ही प्रतीत होता है—अन्य सब स्थानों पर राजतंत्र था और वैशाली में गणतंत्र था । बुद्ध राजतंत्र से अघा चुके थे और उसमें निहित शोषण से उनकी आत्मा विद्रोह कर चुकी थी । जब चारों ओर राजतंत्र का बोलवाला हो तो विगल पारावार में एकाकी खड़े प्रकाश स्तम्भ

की तरह वैशाली ने अमिताभ को अपनी अमित आभा से आकृष्ट कर ही लिया ।

कुछ लोग समझते हैं कि भारत ने लोकतंत्र का पाठ बरतानिया से या पश्चिम से सीखा है । पर यह धारणा कितनी गलत है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है—वैशाली का गणराज्य । यों सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में प्रजा द्वारा राजा के चुने जाने का, और यदि वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे तो उसे हटाए जाने का वर्णन है परन्तु इसे यदि प्रागैतिहासिक काल का केवल सिद्धान्तपरक वर्णन मान लिया जाए, तो वैशाली का उदाहरण केवल ढाई हजार साल पुराना है जो आज अपने ध्वंसावशेषों के रूप में भी इतिहास के मंच पर इस बात की घोषणा कर रहा है कि भारत को लोकतंत्र पाठ किसी अन्य देश से सीखने की आवश्यकता नहीं ।

जिस यूनान की संस्कृति आज सारे पाश्चात्य जगत् के मानस पटल पर अपनी वरेण्यता की छाप बिठा चुकी है, उस यूनान के सिटी (शहरी) नागरिकों को भी समान अधिकार कहां प्राप्त थे, ? केवल कुछ कुलीन और अभिजात वर्ग के व्यक्तियों को ही तो वहां शासन तंत्र चलाने का अधिकार था । गुलामों का वहां के शासनतंत्र में क्या अधिकार था ।

पर भारत में जब कभी और जहां कहीं गणराज्य रहा वहां सबको समान अधिकार प्राप्त रहा । भारत की इस लोकतंत्रीय पद्धति का मुख्य उद्देश्य रहा है मनुष्य का सर्वांगीण विकास और समता के सिद्धान्त द्वारा मानवता की गरिमा की स्थापना । वैशाली के गणराज्य में जो आठ कुल सम्मिलित थे उनके ७,७७७ प्रतिनिधियों का बाकायदा निर्वाचन होता था और शासन की प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए वे सब समान रूप से मतदान का प्रयोग करते थे और बहुमत के निर्णय के अनुसार कार्य होता था ।

महात्मा बुद्ध ने अपने समय में प्रचलित धार्मिक परम्पराओं के विरुद्ध जो क्रान्ति का स्वर बुलन्द किया उसका आधार बौद्धिक दासता और वर्ण-वैषम्य पर प्रहार करना ही था । धर्मग्रन्थ और देवताओं की गुलामी से छुड़ाना धार्मिक लोकतंत्र की निशानी था और जन्म-परक जातिवाद से छुड़ाना सामाजिक लोकतंत्र की । धार्मिक और सामाजिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक लोकतंत्र की कल्पना ही व्यर्थ है । 'मनुष्य अपना दीपक आप है' —यही बुद्ध का अन्तिम उपदेश है और यही लोकतंत्र का सार है ।

राजतंत्र के उपासक, अजातशत्रु के दीवान वर्षकार ने आनन्द की मार्फत महात्मा बुद्ध से पूछा था कि वैशाली का गणराज्य कब तक जीवित रहेगा । तब महात्मा बुद्ध ने कहा था कि जब तक वैशाली के लोग अपने देवस्थानों, धर्मगुरुओं और पूर्वजों का आदर करेंगे, महिलाओं का उचित सम्मान करेंगे, समाज के दुर्बल वर्गों को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करेंगे, संसद् में निष्पक्ष होकर मतदान करेंगे और संसद् में हुए निर्णयों को ईमानदारी से क्रियान्वित करेंगे, तब तक उनके गणराज्य को अन्दर या बाहर से कोई खतरा नहीं है ।

महात्मा बुद्ध के जन्म, बोध और निर्वाण से त्रिधा पवित्र वैशाख पूर्णिमा के दिन वैशाली के खंडहरों से लोकतंत्र की नियति का निर्देश करने वाली यही ध्वनि सुनाई दे रही है ।

कहां मिले प्यासे उर को जल !

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'स्फुलिंग' नामक काव्यसंग्रह में स्फुलिंग जैसी ही दीप्तिमान, किन्तु आकार में जापान की तीन पंक्तियों वाली हाइकु जैसी कुछ क्षणिकाएं लिखी है—

शेष वसन्त रात्र यौवन-रस, रिक्त करिनु विरह-वेदना पात्रे ।

पुष्पेर कलिका निचे आशे अरण्येर आश्वास विपुल ।

कहिल तारा—ज्वालिब आलोखानि आंधार दूर हवे न हवे

शे आभि नाहि जानि ॥

—वसन्त की शेष रात्रि में यौवन-रस रिक्त कर दिया विरह-वेदना पात्र में । पुष्प-कलिका ले आती है अरण्य का विपुल आश्वास । तारे ने कहा—'मैं प्रकाश दूंगा, अन्धकार दूर होगा या नहीं, यह मैं नहीं जानता ।'

एक जापानी कवि वाशी की छोटी-सी हाइकु है—

नात्सु-गुसा या त्सुवामानो दोमो गा युमे नो आतो ।

—अहा ग्रीष्म की घास ! ये रण में खेत रहे वीरों के स्वप्न-चिन्ह हैं ।

कवि-गुरु ने वसन्त की समाप्ति पर ग्रीष्म के आगमन का जहां रूमानी रहस्यवाद के आवरण में आशा-निराशा के भूले में बिठा कर स्वागत किया है, वहां जापानी कवि ने स्पष्ट रूप से उसे वीरों के असिद्ध स्वप्नों का चिन्ह बता कर आशा की जड़ ही काट दी है ! पर घास सूरज की गर्मी पाकर नमी के अभाव में कितनी ही क्यों न सूख जाए, फिर भी उसमें हरीतिमा का कुछ न कुछ अंश तो रहता ही है । संस्कृत के कवि ने गर्मी के शुष्क मौसम में भी आखिर रस खोज ही लिया—

कहां मिले प्यासे उर को जल ! ११५.

रेजे पुष्पैग्रोष्ममासाद्य मल्ली मल्ली सद्यः संश्रयन्ते स्म भृंगाः ।
भृगैस्तत्रारम्भि हर्षेण गानं गाने लौल्यं लेभिरे योगिनोपि ॥

—जब गर्मियों में और फूल सुख गए तब मल्लिका पर बहार आ गई । उसे खिला हुआ देखकर उस पर भौंरे मंडराने लगे और हर्ष में मग्न होकर गीत गाने लगे । भ्रमरों का गान सुनकर योगियों का चित्त भी दोलायमान होने लगा ।

जब चिड़िया घर के जानवर गर्मी से परेशान होकर निरन्तर जल का सान्निध्य चाहते हों या दिन भर अपनी कन्दराओं में छिपे रहते हों, सम्पन्न लोग पक्षी-गरण की तरह संतप्त भू-भाग को छोड़कर ठण्डे स्थानों की ओर उड़ गए हों, एवं गरीब लोग चिलचिलाती धूप में सड़क पर पत्थर कूटने को विवश हों, तब मल्लिका पर गूँजते भ्रमरों के गान से जिन योगियों के मन दोलायमान हो उठते हैं वे योगीजन अवश्य पंच ताराकित होटलों के वातानु-कूलित कक्षों में बैठकर अपने शिष्य-शिष्याओं को योग के माध्यम से निर्वाण का रास्ता बताने के ही अभ्यस्त होंगे । वे शायद ऐसे अभिजातवर्गीय लोग हैं—‘जिन्हें न व्यापे जगतगति ।’ पर संस्कृत के अन्य कवि इतने रोमांटिक नहीं है । एक कवि ने ग्रीष्म की प्रखरता का वर्णन करते हुए लिखा है—

तृप्ता मही विरहिणामिव चित्तवृत्तिः

तृष्णाध्वगेषु कृपणेष्विव वृद्धिमेति ।

सूर्यः करैर्दहति दुर्वचनैः खलो नु

छाया सतीव न मुंचति पादमूलम् ॥

—बरती विरही-जनों के चित्त के समान संतप्त हो उठी है । कृपण व्यक्तियों की तृष्णा की तरह राहगीरों को प्यास सताने लगी है । सूर्य अपनी किरणों से ऐसे ही जलाने लगा है जैसे दुष्ट मनुष्य अपने दुर्वचनों से जलाता है । जैसे सती अपने पति के चरणों को छोड़कर कहीं शरण नहीं चाहती वैसे ही छाया भी वृक्षों के पादमूल को छोड़कर सरकने का नाम नहीं लेती ।

छाया सम्बन्धी व्यंजना को एक अन्य कवि ने दूसरे ढंग से बयान किया है—‘जब दोपहर को दिन के स्वामी भगवान् भास्कर अपने प्रखर प्रताप से चमकने लगे और उनका प्रताप असह्य हो उठा तो विचारी छाया भी छाया की तलाश में दौड़ी और वृक्षों के नीचे जाकर बैठ गई ।’

भयंकर निदाघ के मौसम में एक कवि ने देखा कि मार्तण्ड के प्रचण्ड ताप से बचने के लिए एक हंस श्वेतकमल के छाते के नीचे कमलनाल मुख में लिये सरोवर में शान्त भाव से बैठा है। इस दृश्य को देखते ही कवि की प्रतिभा स्फुरित हुई और उसने उत्प्रेक्षा की कि यह राजहंस नहीं है, चांदी की सुराही है, और हंस के मुख में यह कमलनाल नहीं बल्कि मूंगे-मोती जड़ी नल की टोंटी है जिससे बूंद बूंद करके पानी गिर रहा है।

पर सब सरोवर पानी से भरे हों, यह जरूरी नहीं है। प्रचण्ड ग्रीष्म के समय कूप-वापी-तड़ाग सब सूख जाते हैं। ऐसे ही एक सरोवर के सूख जाने के कारण उसमें दरारें पड़ गई थीं। पथिक ने पूछा—‘कविवर ! गर्मी के मारे तालाब सूख गया, यह बात तो समझ में आती है, पर इसकी पपड़ी में ये दरारें क्यों पड़ गईं?’ देखिए कविवर क्या कहते हैं—

प्रतिगतमर्थिजनानां विच्छिन्नाशं समूहमवलोक्य ।

स्फुटितमपयसस्तापादिव हृदयममलं तड़ागस्य ॥

—जिस सरोवर के जल से सब लोग अपनी प्यास बुझाते थे, उसी सरोवर के पास आकर अब जब देखते हैं कि इसमें तो पानी की बूंद भी नहीं, यह तो सूखा पड़ा है, तो निराश होकर लौट जाते हैं। अपने द्वार से पिपासातुरों को इस प्रकार वापिस जाते देख दयालु सरोवर का हृदय पश्चात्ताप से फटेगा नहीं तो और क्या होगा ?

ऋतुराज वसन्त कभी का बीत चुका। महात्मा बुद्ध के जन्म, बोध और निर्वाण की स्मृति कराती वैशाख पूर्णिमा भी बीत चुकी। अब तो ज्येष्ठ महीना आया है। जेठ बड़ा होता है न, इस मास की गर्मी की लम्बाई के मुकाबले शेष सब मास निरे देवर ही देवर—छोटे ही छोटे हैं। जब ग्रीष्म से आतंकित, शाश्वत बैर रखने वाले पशु भी, आपसी बैर भाव भूल कर छाया की तलाश में एक स्थान पर स्थित हो सकते हैं, समान दुःख और समान भय विरोधियों को भी एकत्र कर सकता है (जनता पार्टी के परस्पर—विरोधी विचार वारा वाले घटकों को भी एकत्र करने में समान भय हेतु नहीं है क्या !), तब ग्रीष्म की महान संयोजक की संज्ञा मिलनी चाहिए। यह महानता ज्येष्ठ शब्द के अनुरूप ही है। गर्मी में मृग और सिंह को एक ही घाट

कहां मिले प्यासे उर को जल ! ११७

पर पानी पीता देखकर महाकवि बिहारी ने तो इसे तपोवन की उपमा दी थी—

जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ।

शायद इस तपोवन की तपस्या को पूरा करने के लिए ही, कोड़ में खाज की तरह, राजधानी के नगर पिताओं ने चाहे जब बिजली और पानी का संकट भी पैदा करने का ठेका ले लिया है। मौसम विभाग कह रहा है कि इस बार गर्मी ने गत तीस वर्षों का लेखा तोड़ दिया। लू और गर्मी से मरने वालों की संख्या तीन अंकों तक पहुंच गई है और उस पर राजनीतिज्ञों की अखाड़ेबाजी !—पसीने से चुचुआते मल्ल एक दूसरे को पटकनी देने पर तुले हैं। खुद आसमान देख लें तो धूल भाड़कर, ताल ठोंक कर फिर मैदान में।

अन्दर और बाहर की इस गर्मी के प्रकरण को समाप्त करने से पहले, गत वर्ष लगभग इन्हीं दिनों दिवंगत, महाकवि पन्त की कुछ पंक्तियां याद आ रही हैं—

रेती में भटका मृग घायल,
चकाचौंध मन के दृग चंचल ।

चुभते पावक के सिक्ता कण
जर्जर अन्तर में सौ सौ व्रण,

बाहर व्याकुल मृग जल तृष्णा कहां मिले प्यासे उर को जल !

एवरेस्ट, तुम महान हो !

आज से २५ साल पहले की बात है। ब्रिटिश इतिहास का ऐसा कौन मन्दमति छात्र भी होगा जिसे इस युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना को द्योतित करने वाली—२ जून १९५३—की तारीख याद न हो। इसी दिन तो राष्ट्रमंडल की साम्राज्ञी और ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ (द्वितीय) का राज्याभिषेक हुआ था।

परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण एक और घटना हुई थी जिसे इस राज्याभिषेक का सबसे बहुमूल्य उपहार समझा गया था और वह घटना थी माउण्ट एवरेस्ट पर विजय की। यद्यपि संसार के इस सबसे कठिनतम अभियान में चिर-पोषित सफलता का श्रेय मिला था २९ मई की तारीख को, परन्तु चार दिन तक इस समाचार को प्रयत्न-पूर्वक संसार से छिपाकर रखा गया और दो जून को अकस्मात् जब समाचार का विस्फोट हुआ तो संसार स्तब्ध रह गया।

ब्रिटेन एक तरह से माउण्ट एवरेस्ट पर अपना एकाधिकार मानता था। सन् १९२९ से लगातार ब्रिटिश पर्वतारोही एवरेस्ट पर विजय के लिए अभियान-रत थे। इन साहसिक अभियानों में न जाने धन-जन-समय-श्रम की कितनी हानि हुई, पर एवरेस्ट ने ३२ साल तक एक भी अभियान को सफल नहीं होने दिया। वह अजेय का अजेय बना रहा। पर साहसिक ब्रिटिश जाति ने भी हार नहीं मानी। अन्त में सन् १९५३ में वह अवसर आया जब एवरेस्ट के अविजित शिखर को मानव पर दया आई और उसने प्रथम बार मानवीय चरण का स्पर्श किया।

पर एवरेस्ट भी कैसा छलिया निकला। ३२ वर्षों से ब्रिटिश जनों को

जैसे चकमा देता आया था, इस बार भी उसने वैसा ही चकमा दिया। जिन दो व्यक्तियों को उसने अपने प्रथम शिखर स्पर्श का गौरव प्रदान किया उनमें से एक था न्यूजीलैण्ड वासी एडमण्ड हिलेरी और दूसरा था नेपाली-भारतीय तेनजिग नोर्गी।

तेनजिग का अर्थ है-धर्मरक्षक और नोर्गी का अर्थ है-भाग्यशाली। उसके माता-पिता ने उसका नाम रखा था—नामग्याल चांगदो और वे उसे लामा बनाना चाहते थे। पर एक लामा ने ही उसे 'धर्मरक्षक भाग्यशाली' नाम दिया था और उसके सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी कि एक दिन वह विश्व-विश्रुत व्यक्ति बनेगा। खोलो खुम्बू के अज्ञात शेरपा ग्राम के इस अज्ञात व्यक्ति के बारे में उस समय किसे कल्पना थी कि एक दिन यह बालक सचमुच सारे संसार में प्रसिद्ध हो जाएगा। अपने माता-पिता की १३ सन्तानों में से ११वीं सन्तान यह तेनजिग बचपन से ही नगाधिराज के उच्चतम शिखरों पर आरोहण के स्वप्न देखा करता था और २५ वर्ष पहले उसका यह स्वप्न पूरा हो गया।

ब्रिटिश जनों द्वारा एवरेस्ट पर एकाधिकार समझने का कारण शायद यह भी रहा हो कि 'एवरेस्ट' नाम एक अंग्रेज द्वारा ही दिया गया था। हिमालय के सर्वोच्च शिखर के नेपाल में प्रचलित नाम—सरगमाथा—को और तिब्बत तथा चीन में प्रचलित नाम—चोमो लुंगमा—को सामने न लाकर सारे संसार में उसे 'एवरेस्ट' के नाम से प्रचारित करने का श्रेय या कुश्रेय अंग्रेजों को ही है। वास्तविकता यह है कि जिस सर्वेक्षण विभाग के पास हिमालय के विभिन्न शिखरों की ऊँचाइयों के निर्धारण का दायित्व था उस विभाग के अध्यक्ष थे सर जान मार्शल एवरेस्ट। उन्होंने अपने नाम से ही हिमालय के सर्वोच्च शिखर का नाम प्रचारित करके अपना नाम तो अमर कर दिया, पर उसी विभाग में मामूली क्लर्क, राधानाथ सिकंदर नामक वह बंगाली युवक, विस्मृति के गह्वर में विलीन हो गया जिसने वस्तुतः इस शिखर की ऊँचाई का निर्धारण किया था और इसे हिमालय का ही नहीं, संसार का सर्वोच्च शिखर घोषित किया था। उस समय इस देश में अंग्रेजों का शासन था। शासितों के किसी भी महान कार्य का श्रेय स्वयं बटोर लेना शासकगण सदा अपना अधिकार समझते आए हैं।

पच्चीस वर्ष पहले की उस अभूतपूर्व घटना के पश्चात् अब तक नौ विभिन्न देशों के ५५ पर्वतारोही माउण्ट एवरेस्ट पर आरोहण में सफलता प्राप्त कर चुके हैं। इनमें जापान की जुंको ताबी और चीन-अधिकृत तिब्बत की फुंतोंग नामक दो महिलाएं भी शामिल हैं। सन १९५३ के बाद से इन पच्चीस वर्षों में एवरेस्ट विजय के २१ अभियान हुए जिनमें केवल १२ ही सफलता प्राप्त कर सके। सन १९६४ में भारतीय दल के नौ व्यक्तियों ने एवरेस्ट शिखर पर आरोहण करके एक नया कीर्तिमान स्थापित किया था। अब एवरेस्ट भले ही अविजित न रहा हो, पर इसकी चुनौतियां और आकर्षण यथापूर्व है, इसीलिए विभिन्न देशों के साहसी लोग अब भी इतनी अधिक संख्या में इस पर आरोहण के लिए उत्सुक हैं कि सन १९८२ तक के लिए एवरेस्ट बुक हो चुका है। विजय के इस जयन्ती वर्ष में दो अन्य व्यक्तियों ने एक और नया कीर्तिमान स्थापित किया है। इटली के रेनहोल्ड मैसनर और आस्ट्रिया के पीटर हेबलर ने बिना आक्सीजन के माउण्ट एवरेस्ट पर आरोहण में सफलता प्राप्त की है।

इन साहसी पुरुषों को स्मरण करते हुए उन तीन व्यक्तियों को कैसे भुलाया जा सकता है जिन्होंने एकाकी ही संसार के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण का अभियान किया था। इनमें से पहला व्यक्ति था मौरिस विल्सन नामक अंग्रेज जिसने प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लिया था। उसको किसी तरह यह विश्वास हो गया कि उसे दिव्य शक्ति प्राप्त है और उसकी बदौलत वह माउण्ट एवरेस्ट पर आरोहण जैसे अमानवीय कृत्य को एकाकी सम्पादित कर सकता है। वह एक पुराने ढंग के छोटे से हवाई जहाज को उड़ाकर ५,००० मील का सफर तय करके पूर्णिया में आकर उतरा। अंग्रेजों ने उसका विमान ज्वत् कर लिया। तब वह चुपचाप दार्जिलिंग पहुंचा और वहां से तिब्बती लामा का वेष धारण कर सिक्किम होता हुआ तिब्बत पहुंच गया। वह रात को सफर करता और दिन में कहीं एकान्त में छिपा रहता। इस तरह लगभग ३०० मील का पैदल सफर कर वह १४ अप्रैल १९३४ को १६,००० फुट की ऊंचाई पर स्थित रोंगबुक मठ पहुंचा। वहां से उसने आरोहण प्रारम्भ किया। वह तीन दिन में ही १६,५०० फुट की ऊंचाई तक पहुंच गया।

बर्फ़ीले तूफ़ान ने उसे आगे नहीं बढ़ने दिया तो वह वापिस लौट आया परन्तु कुछ दिन बाद उसने फिर आरोहण का प्रयत्न किया। इस बार वह २१,००० फुट की ऊँचाई तक पहुँच गया परन्तु उसके बाद वापिस लौटकर नहीं आया। अगले वर्ष एक अन्य पर्वतारोही दल को माउण्ट एवरेस्ट के मार्ग में उसका शव बर्फ़ में दबा हुआ मिला।

इसी प्रकार डेनमान नामक व्यक्ति ने सन १९४७ में और लारसेन नामक व्यक्ति ने सन १९५१ में एकाकी माउण्ट एवरेस्ट पर आरोहण का प्रयत्न किया। उन दोनों को भी सफलता वेशक नहीं मिली, पर साहस के इतिहास में वे एक नया अध्याय अवश्य जोड़ गए।

अन्त में एक घटना का उल्लेख किये बिना इस प्रसंग को समाप्त करने का मन नहीं करता।

माउण्ट एवरेस्ट के प्रथम विजेता के रूप में अभिनन्दन के लिए हिलेरी और तेनजिग को ब्रिटिश महारानी ने लन्दन बुलाया। तेनजिग नेहरू जी से पूछने गया कि मुझे लन्दन जाना चाहिए या नहीं। नेहरू जी ने कहा—‘अवश्य जाना चाहिए।’ फिर साथ ही पूछा कि कौन से कपड़े पहन कर उस राजसी समारोह में शरीक होंगे! तेनजिग बगलें भाँकने लगा। तब नेहरू उसे तीनभूति के अपने निजी कमरे में ले गए। अपने ‘वार्ड रोब’ के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया और कहा कि इनमें से जो सूट तुम्हें पसन्द आए, वह ले लो। तेनजिग फिर बगलें भाँकने लगा। तब नेहरू ने स्वयं बढ़िया सूट निकालकर कर कहा कि इसे पहन कर देखो।

इस तरह कई सूटों की आजमाइश के बाद तेनजिग को वह सूट फिट आया जिसे नेहरू अपने कैम्ब्रिज के छात्र-जीवन में पहना करते थे और जिसे उन्होंने इतने वर्षों तक प्यार से सम्भाल कर रखा हुआ था। उस सूट को पहन कर तेनजिग बोला—‘अब लगता है कि मैं एक गरीब भारवाहक कुली नहीं, बल्कि एक बी. आई. पी. हूँ।’ नेहरू ने तेनजिग की पीठ थपथपाई और एक सुन्दर बीफ़केस उसके हाथ में थमाते हुए कहा—‘यह और साथ में रखो तो फिर पूरे बी. आई. पी. लगोगे।’

कुर्सी के देवता

हमारा देश देवताओं की पूजा करने वाला है। संसार में इसी नाम से इसकी ख्याति है। देवता भी एक नहीं, अनेक, इसीलिए धार्मिक जगत में भारत को बहुदेवतावादी कहा जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा—

यद्-यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदुजितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंश सम्भवम् ॥

—जिस भी किसी पदार्थ में अन्य पदार्थों से कुछ विशेष चमत्कार हो या जिसमें विशेष ऊर्जा परिलक्षित होती हो, हे अर्जुन ! उसे तुम मेरे ही तेज का अंश समझो। भारतीय संस्कृति की इस विशिष्ट विचारधारा के कारण ही हमने जहां भी कुछ दिव्यता देखी, उसी को देव शब्द से सम्बोधित किया। एक उर्दू के शायर ने कहा है—

जहां देखा यार का नक्शे-मा

वहीं सरे-सजदा भुका दिया।

—अपने आराध्य के जहां भी चरणचिन्ह देखे, वहीं सिर भुका दिया। जो बात गीता ने कही वही बात उर्दू के शायर ने कही। पर दोनों का तर्ज वयां जुदा है।

पहले कभी देव शब्द केवल परमात्मा के लिए सम्बोधित था—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

—एक ही देव सब प्राणियों में गूढ़ रूप से व्याप्त है। फिर यही देव शब्द ब्रह्मा-विष्णु-महेश—इन तीन देवों के लिए प्रयुक्त होने लगा। तीन से फिर

तीस बने—इसीलिए 'त्रिदश' [तीन बार दस = तीस] शब्द देवता का भी पर्यायवाची बन गया। कहा गया कि इनमें दस देवता पृथ्वी-स्थानीय हैं, दस अन्तरिक्ष स्थानीय और दस ब्रूलोक-स्थानीय। जब परिगणन का अवसर आया तो गिनाया गया—८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य। पर ८+११+१२ तो मिलकर ३१ हो गए। तब वसु, रुद्र और आदित्य में दो अश्विनी देव मिला कर उनकी संख्या तैंतीस कर दी गई और उनकी पूजा चल पड़ी।

जब अनेकता के उपासकों को इससे संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने तीस के स्थान पर तीन सौ (त्रयस्त्रिंशत) देवता कर दिए। पर अनेकत्ववादी मानस जब इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुआ तो तीन सौ के स्थान पर तीस करोड़ देवताओं की बात कही जाने लगी। राष्ट्रवादियों ने इस आध्यात्मिक भावना को नया आयाम दिया। जब राष्ट्रवाद के पुरोधा, 'वन्देमातरम्' के गायक, दंकिमचंद्र ने लिखा था—

त्रिंशकोटिकण्ठ—कलकल निनाद कराले

द्वित्रिंश कोटि भुजधृत खर करवाले

के बोले मां तुमि अबले !

—तीस करोड़ कण्ठों से निकला जिसके जयगान का कलकल कराल निनाद गगन को कम्पायमान कर देता हो और खर-करवाल धारण किए साठ करोड़ भुजाएं जिसकी रक्षा के लिए सन्नद्ध हों उस भारत माता को अबला कहने की हिम्मत कौन कर सकता है? —तब उसका सीधा संकेत भारत के निवासियों से ही था। इस प्रकार भारतवासियों ने एक प्रकार से अपने आपको ही देव-कोटि में गिन लिया था। इससे बढ़कर हमारे अपने अहं की तुष्टि और किस प्रकार हो सकती थी।

पर देव-पूजकता की यह प्रवृत्ति यहां भी नहीं रुकी। हमने जिस नदी को अन्य नदियों से विशिष्ट पाप प्रक्षालन करने वाली माना, उसे देवनादी (गंगा) की संज्ञा दी, जिस भाषा को संसार की सब भाषाओं से श्रेष्ठ समझा उसे देवभाषा (संस्कृत) की संज्ञा दी, जिस लिपि को सर्वश्रेष्ठ माना, उसे देव-नागरी की संज्ञा दी, जिस हिमालय को अन्य सब पर्वतों का सिरताज माना

१२४ देवता : कुर्सी के

उसे 'देवतात्मा' कहा, जिस वृक्ष को औरों से उत्कृष्ट माना उसे देवदारु नाम दिया। वही देव, देव, देव ! परन्तु हमारी इस देवपूजक प्रवृत्ति की परा-काष्ठा तब हुई जब हमने किसी पाषाण-खण्ड, काष्ठ-खण्ड और मिट्टी के ढूह को भी देवता कह कर उसकी पूजा करनी प्रारम्भ कर दी, उसके आगे मिन्नतें मानीं और उसके भोग के लिए तरह-तरह के पदार्थ उसको भेंट चढ़ाए।

समय बदलने के साथ देवताओं के स्वरूप और संख्या में तो परिवर्तन आता गया, परन्तु देव-पूजक प्रवृत्ति में परिवर्तन नहीं आया। आजकल नए देवताओं की सृष्टि हुई है। वे उसी तरह पूजा के पात्र बन गये हैं जैसे अब तक के अन्य देवता गण थे। इन्हें हम 'कुर्सी के देवता' कह सकते हैं। इनके देवत्व में इनका अपना व्यक्तित्व इतना सहायक नहीं होता, जितनी सहायक कुर्सी होती है। जिस दिन ये देवता कुर्सी छोड़ देते हैं, उस दिन इन देवताओं की शक्ति इतनी दयनीय हो जाती है कि पुजारी को सहसा विश्वास नहीं होता कि मैं अब तक इसी देवता की अर्चना और पूजा कर रहा था।

आजकल कुर्सी के इन देवताओं में सबसे ऊंचा स्थान है—मंत्रियों का। नाना पुराणों में नाना देवताओं की कथाएं अंकित हैं—कुछ कल्पित, कुछ अलंकारिक। कुर्सी के इन नये देवताओं में से कुछ कथाएं तो इतनी रोचक हैं कि उनके सामने पौराणिक देवताओं की कथाएं पानी भरेंगी।

एक मंत्री महोदय दौरे पर गये। उनके टहरने की व्यवस्था एक सुसज्जित आरामदेह बढ़िया शानदार रेस्ट हाउस में की गई। वहां शौचालय पाश्चात्य ढंग का था। उसे देखते ही नए देवता विगड़ पड़े और रेस्ट हाउस के कर्मचारियों पर झुंझलाए—“तुम सब बेवकूफ हो। क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि अब अंग्रेज चले गए हैं ? हम हिन्दुस्तानियों को इस प्रकार का शौचालय नहीं चाहिए। तुरन्त इसे बदल कर भारतीय ढंग का करो। यदि तत्काल ऐसा नहीं किया गया तो तुम सबको बर्खास्त कर दूंगा।” कर्मचारी क्या करते। जुट गए आदेश का पालन करने में। राज और मिस्त्रियों की फौज इकट्ठी हो गई और देखते-देखते शौचालय का काया पलट हो गया।

कुछ दिन के बाद अपने दौरे के दौरान मुख्यमंत्री महोदय उसी स्थान पर पहुंचे। ये पाश्चात्य ढंग के शौचालय के आदी थे। जब उन्होंने देखा कि वहां

एक भी पाश्चात्य ढंग की लैटरिन नहीं है, तो वे बिगड़ खड़े हुए और उन्होंने आदेश दिया कि भारतीय ढंग के शौचालय को बदल कर पाश्चात्य ढंग के शौचालय में परिवर्तित किया जाए—और सो भी तुरन्त। फिर राज और मिस्त्रियों की जमात जुड़ी और देखते-देखते फिर शौचालय का काया पलट हो गया।

एक और देवता की कथा सुनिए। मंत्री महोदय बिना पूर्वसूचना के आधीरात को स्टेशन पर पहुँचे और वहीं से राजस्व अधिकारी को अपने ठहरने की उचित व्यवस्था करने का आदेश दिया। उस अधिकारी ने दौड़भूप करके अपनी ओर से अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था की। पर जब मंत्री महोदय पहुँचे तो उन्होंने देखा कि न तो अन्य अधिकारीगण उनका स्वागत करने आए हैं, न ही उन्हें सलामी देने के लिए पुलिस की गारद हाजिर है। फिर क्या था देवता का पारा चढ़ गया। देवता ने सर्किट हाउस के मुख्य कक्ष में घुसने से इन्कार कर दिया और वह बरामदे के बाहर घास पर ही धरना देकर बैठ गया। बिचारा राजस्व अधिकारी भागा-भागा कस्बे में गया। उसने होम गार्डों के कमाण्डर से कहा कि कुछ लोगों को तुरन्त खाकी वर्दी में मंत्री महोदय को सलामी देने के लिए सर्किट हाउस भेजिए। कमाण्डर ने इतमीनान दिलाया कि सवेरा होने दीजिए, मैं जरूर भेज दूंगा।

मंत्री महोदय सवेरे तक उस ओस-भीगी ठंडी घास पर ही धरना दिए बैठे रहे या कमरे के अन्दर चले गए, इसका वर्णन उस दन्त-पुराण के ताजातरीन संस्करण में भी नहीं है।

पुराने देवताओं के सम्बन्ध में महर्षि व्यास अठारह पुराण लिख गए। पर इन आधुनिक देवताओं की कथाएं लिखने के लिए कोई आधुनिक व्यास शायद इसीलिए तैयार नहीं हुआ कि—

हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता ॥

अन्त में एक शायर का शेर दिमाग में घुमड़ रहा है, उसी से बात समाप्त करें—

जिस्ती-ए-अदक आके किनारे हुई तबाह।

साहिल भी एतबार के काबिल नहीं रहा ॥

—आंसुओं की किस्ती किनारे पर आकर भी तबाह हो गई। अब तो किनारा भी भरोसे के योग्य नहीं रहा।

मृत्युवाहिनी गंगा

महाकवि विशाखदत्त ने 'मुद्रा-राक्षस' नामक अपने नाटक का मंगला-चरण बड़े विचित्र ढंग से किया है। मंगलाचरण इस प्रकार है—

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि
शशिकला किनु नामैतदस्याः
नामैवास्यास्तदेतत् परिचित-
मपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ।
नारी पृच्छामि नेन्दुं कथयतु
विजया न प्रमाणं यदीन्दुः
देव्या निन्दोतुमिच्छोरिति सुर-
सरितं शाठ्यमव्यादिवभोर्वं ॥

—पार्वती ने शिवजी से पूछा—'वह सौभाग्यशालिनी कौन है जिसे आपने अपने सिर पर धारण कर रखा है ?' शिवजी ने भोलेपन से उत्तर दिया—'अरे यह मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा की कला ही तो है।' पार्वती ने कहा—'इसका नाम भी तो सुनूं !' शिवजी बोले—'पार्वती ! तुम तो इससे खूब परिचित हो, तुम इसे नहीं पहचानती ? इसका नाम भूल कैसे गई ?' तब पार्वती ने जटाजूट की ओर इशारा करते हुए अपना आशय स्पष्ट किया—'श्रीमान जी ! मैं चन्द्रमा के बारे में नहीं पूछ रही हूँ, उस नारी के बारे में पूछ रही हूँ जिसे आपने इतना सिर चढ़ा रखा है।' शिवजी ने फिर दांव बचाते हुए पैतरा मारा—'कहां, कहीं कोई भी तो नहीं। बस वही तुम्हारा चिर-परिचित चन्द्रमा ही है। विश्वास न हो तो अपनी सखी विजया से पूछ

कर देख लो ।' पार्वती का संकेत शिवजी के जटाजूट में छिपी जाह्नवी की ओर था और शिवजी उसका नाम पार्वती के सामने लेना नहीं चाहते थे क्योंकि उन्हें सौतिया डाह का भय था । कवि का कहना है कि इस प्रकार बारम्बार कुरेद कर पूछने पर भी पार्वती से गंगा का नाम छिपाने की शिवजी की यह चालाकी सबकी रक्षा करे ।

मन्दाकिनी की स्तुति करते हुए एक अन्य कवि ने शब्द योजना का अच्छा चमत्कार उपस्थित किया है—

एषा धर्मपताकिनी तट सुधासेवावसन्नाकिनी
 शुष्यत्पातकिनी भागीरथ तपःसाफल्य हेवाकिनी ।
 प्रेमारूढपिनाकिनी गिरिसुतास्याकेकरालोकिनी
 पापाडम्बरडाकिनी त्रिभुवनानन्दाय मन्दाकिनी ॥

—यह मन्दाकिनी धर्म की पताका है, अपने तट पर वसे प्राणियों के लिये अमृतप्रदायिनी और स्वर्ग प्रदायिनी है, पापों को नष्ट करने वाली है, भागीरथ के तप की सफलता की संदेशवाहिनी है, पिनाकी शिव की प्रेमारूढ़ा प्रेयसी है, पार्वती के भू-कटाक्ष की शिकार है, पापों के आडम्बर को जादू-मन्त्र से उड़ा देने वाली है और तीनों लोकों की आनन्दकारिणी है ।

हिमालय और गंगा भारतीय संस्कृति, भारतीय साहित्य और भारतीय जन-जीवन के साथ जिस प्रकार एकाकार हो गए हैं वैसा सौभाग्य शायद संसार के और किसी पर्वत तथा और किसी नदी को नहीं मिला होगा । हिमालय और गंगा दोनों भारत के भूगोल और इतिहास के निर्माता हैं । जरा कल्पना कीजिए कि हिमालय न होता तो इस महादेश का भौगोलिक परिवेश और जलवायु कैसा होता या यदि गंगा का रुख ही भारत की ओर न होकर इससे विपरीत दिशा में होता तो गंगा-यमुना का यह सबसे अधिक उर्वर और सबसे अधिक घना आबाद प्रदेश निरा वीरान और रेगिस्तान ही होता ।

अब जरा कुछ नए तथ्यों की ओर ध्यान दीजिए—

अगले दो दशकों में गंगा-क्षेत्र की आबादी बढ़कर साठ-करोड़ हो जाने वाली है, जो आज समस्त भारत की आबादी के बराबर है । इन्हीं आगामी

दो दशकों में यदि गंगा-क्षेत्र के भूमि-क्षरण और जल-प्रदूषण की यही गति जारी रही तो यह सारा उर्वर प्रदेश मरुस्थल बन जाने वाला है। यदि गंगा की सहायक नदियों का उचित ढंग से विकास नहीं किया गया तो गंगा में इतनी मिट्टी जमा हो जाएगी कि इसका मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा और यह कदाचित् समुद्र की ओर जाना छोड़कर वर्तमान प्रवाह से उलटी दिशा में प्रवाहित होने लगेगी।

यह केवल कपोल-कल्पना नहीं है, बल्कि कठोर सत्य है। जितने हिन्दी भाषी प्रदेश हैं, वे सब इसी गंगा-क्षेत्र में पड़ते हैं। यहां की मिट्टी में हजारों प्रकार के फल-फूल, अन्न-वान्य, शाक और वनस्पति आदि पैदा होते हैं। कोयला और इस्पात का भण्डार यहीं है। विश्व का अधिकांश अभ्रक इसी क्षेत्र में होता है। इस क्षेत्र के पर्वतीय प्रदेशों में कितने रत्नों और रसायनों की खानें और औषधियों के भण्डार छिपे हैं। गंगा का अगाध जल विश्व की सबसे बड़ी सिंचाई योजना दे चुका है। इस क्षेत्र में इतनी बिजली पैदा हो सकती है कि सारे देश की आवश्यकता पूरी हो सके और इतनी खाद्य-सामग्री की एक अरब व्यक्तियों का पेट भर सके परन्तु आज यही प्रदेश सबसे अधिक गरीब है और अगले बीस वर्ष इस प्रदेश के लिए और भी अधिक संकट की सूचना लेकर आ रहे हैं।

भू-क्षरण और प्रदूषण की समस्या विश्व-व्यापी है। पर इस विषय में भारत की जनता जितनी उदासीन है, उतनी कदाचित् और किसी देश की नहीं। भारत में भू-क्षरण से ब्यालीस करोड़ पचास लाख एकड़ भूमि बर्बाद हो चुकी है। एक करोड़ पचहत्तर लाख एकड़ भूमि अम्ल, क्षार तथा जल से प्लावित होने के कारण बेकार हो चुकी है। पांच करोड़ एकड़ भूमि में बाढ़ से प्रति वर्ष लगभग ३०० करोड़ रुपए की क्षति केवल इसलिए हो रही है कि पानी की उचित निकासी नहीं है। इस बरबादी में गंगा क्षेत्र का स्थान सबसे आगे है। अकेले इस क्षेत्र में लगभग ४ करोड़ ५० लाख एकड़ सेंटीमीटर मिट्टी का ह्रास प्रतिवर्ष हो रहा है जिससे भूमि को उर्वर बनाने वाले स्थल और सूक्ष्म तत्व समुद्र में विलीन हो जाते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि मिट्टी की सतह की केवल २० सेंटीमीटर तक की ऊपरी तह ही खेती के योग्य होती है, यदि यह बह जाएगा तो वह प्रदेश ऊसर हो जाएगा।

औद्योगीकरण की होड़ में कोयला तथा पेट्रोल पर आधारित उद्योग निरन्तर वायुमण्डल को प्रदूषित करते हैं। बड़े-बड़े कारखानों से निकलने वाले संमस्त रासायनिक उच्छेद, जो मानव जीवन के लिए विष जैसे ही घातक होते हैं, नदियों के पानी में मिल कर पेय जल को भी प्रदूषित कर रहे हैं। वायु के इस प्रकार निरन्तर प्रदूषित होने से केवल मानव का ही नहीं, अन्य प्राणियों का और वृक्ष-वनस्पतियों का भी जीवन संकटापन्न बनता जा रहा है।

इतिहास ने सभ्यताओं को पनपते और उजड़ते देखा है। मोएन-जो-दड़ो और हड़प्पा की वह पुराकालीन समृद्ध सभ्यता क्या हुई? अपने ऐश्वर्य से सबको चकाचौंध करने वाले वे महान नगर आज केवल 'मृत्कों के टीले' बने हुए हैं। आसुरी सभ्यता का गढ़ असीरिया क्या हुआ? आज जो ईराक रेगिस्तानी प्रदेश बना हुआ है, कभी दजला और फरात जैसी नदियाँ और उनकी नहरों से सिंचित मेसोपोटामिया के नाम से संसार का सबसे अधिक उपजाऊ और हरा-भरा प्रदेश था परन्तु उसके निवासियों की ना-समझी ने उसे रेगिस्तान बना दिया, और मानव की समझदारी का नमूना देखिए कि इजरायल की जो भूमि कभी नितान्त रेगिस्तान थी, आज वही फलों और फूलों से लदी नखलिस्तान बन गई।

गंगा और हिमालय के रूप में जो वरदान भारत को प्राप्त हुए हैं, कहीं ऐसा न हो कि हम अपनी अदूरदर्शिता से उन्हें अभिशाप बना डालें। हिमालय की वन-सम्पदा नष्ट हो रही है। उससे भू-क्षरण बढ़ रहा है। भू-क्षरण से नदियाँ उथली हो जाती हैं, जिससे बाढ़ें आती हैं। ऊपर से प्रदूषण की समस्या। जो गंगा जीवन-वाहिनी है, वही मृत्युवाहिनी बनाई जा रही है।

लगता है, हिमालय नाम का यह वृद्ध तपस्वी सबसे ऊँची टेकरी पर खड़ा भारत के इस भवितव्य को अपनी आँखों से देख रहा है और गंगा-यमुना जैसी सदानीरा नदियों के रूप में उसकी आँखों से 'गंगा-यमुना' बह रही है।

हकीकत में क्या कहूं !

पानीपत का नाम इतिहास में विख्यात है। पता नहीं कितनी बार वहाँ तलवारों के पानी की और देश की पत की परीक्षा हुई है। वहाँ हुई तीन लड़ाइयों की तारीखों को इतिहास के विद्यार्थी सदा याद रखते हैं—सन् १५२६, सन् १५५६ और सन् १७६१ का युद्ध—

एक ओर मराठा शक्ति का कर्णधार सदाशिवराव भाऊ अपनी विशाल विजयवाहिनी को लिए प्राणपण से देश की रक्षा के लिए सन्नद्ध था। दूसरी ओर इस देश को पद-दलित कर अपना साम्राज्य स्थापित करने की लालसा से आया अहमदशाह अब्दाली अपनी जंगजू फौज को लेकर जिन्दगी और मौत की जंग के लिए आमादा था। भयंकर लड़ाई हुई। दोनों ओर के हजारों सैनिक हताहत हुए। मराठा सेना ने अपने शौर्य से पठानों और मुगलों की सेना के छक्के छुड़ा दिए।

सूर्यास्त के पश्चात् दोनों ओर के सैनिक युद्ध से विरत होकर अपने-अपने खेमों में लौट गए।

थोड़ी देर के पश्चात्, मराठा सैन्य शिविर की ओर अब्दाली की नजर पड़ी तो उसने देखा कि स्थान-स्थान पर आग मुलग रही है। उसे शंका हुई, आश्चर्य भी—क्या मराठा सैनिक अपने खेमों को आग लगाकर वापिस जा रहे हैं। आखिर क्यों? मैदान तो उनके हाथ रहा है। फिर वे ऐसा क्यों करेंगे? क्या यह कोई चाल है? अब्दाली ने असलियत पता लगाने के लिए गुप्तचरों को भेजा।

गुप्तचरों ने आकर बताया कि यह जो आग जगह-जगह दिखाई दे रही है, यह और कुछ नहीं—मराठा सैनिक अपना-अपना खाना पका रहे हैं। इन

लोगों में छुआछूत इतनी अधिक है कि ये एक दूसरे के हाथ का पकाया हुआ खाना नहीं खा सकते, इसलिए हरेक सैनिक अपना अलग चूल्हा बनाकर उसमें अपना भोजन तैयार कर रहा है।

अब्दाली के दिमाग में तुरन्त एक विचार कौंध गया। उसने सोचा कि जो लोग एक साथ मिल कर भोजन नहीं कर सकते, वे एक साथ मिलकर लड़ कैसे सकते हैं? और उसने तुरन्त अपने सैनिकों को हमला बोलने का हुक्म दे दिया।

मराठा सैनिक भोजन से निवृत्त भी नहीं हुए थे कि इस आकस्मिक हमले से उनके आँसान खता हो गए। देखते ही देखते पासा पलट गया। उस समय अजेय समझी जाने वाली प्रबल मराठा शक्ति को मुंह की खानी पड़ी। सदा-शिव राव भाड़ मारा गया। विजय का सेहरा अब्दाली के सिर बंधा और पानीपत ने एक बार फिर भारत की पत पानी-पानी कर दी।

इस घटना में ऐतिहासिक सत्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। पर यह घटना जिस प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है, वह अवश्य सत्य है। इस देश के निवासियों की यह ऐसी चिरन्तन प्रवृत्ति है कि उससे आज भी वह उबरा नहीं है। हालांकि संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच से भारतीय नेताओं ने ही बारम्बार वैदिक ऋषियों के इस मंत्र की घोषणा की है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

—तुम्हारे संकल्प समान हों, तुम्हारे मन समान हों ताकि तुम सब सुखी हो सको। इसके साथ ही—

संगच्छ्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

—साथ-साथ चलो, साथ-साथ बोलो और तुम सबके मन की ज्ञान-सम्पदा भी तुमको साथ-साथ आगे बढ़ाए—वेद की यह वाणी भी मानवता के सुख और शांति की आश्वत वाणी के रूप में सर्वत्र समादर पा चुकी है। पर इसका अपलाप भी सबसे अधिक अपने ही देश में दृष्टिगोचर होता है। जैसे यह वाणी संसार के और सब देशों के लिए है, पर अपने देश के लिए नहीं है।

तभी तो विदेशमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के हृदय की वेदना इन शब्दों में प्रकट होती है—

न हम इकट्ठे जी सकते हैं

न इकट्ठे मर सकते हैं ।

सचमुच ही न हम इकट्ठे जी सकते हैं, न इकट्ठे मर सकते हैं क्योंकि न हम इकट्ठे चल सकते हैं, न इकट्ठे बोल सकते हैं । अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग । ‘मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना, तुण्डे-तुण्डे सरस्वती ।’ ऐसा भी लगता है कि जब कभी एकता आती है, तो वह क्षणिक होती है । साहित्य की भाषा में कहना हो तो वह केवल संचारी भाव है, स्थायी भाव नहीं ।

आपात काल के समान कष्टों ने और समान भय ने जिन विरोधी तत्त्वों को एकता के सूत्र में बाँधा था, अब वही तत्त्व फिर अपने असली रंग में आने की फिराक में है—विना यह सोचे कि उसका परिणाम क्या होगा ? देश का क्या होगा ? कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है जिस प्रकार दस्युदल में किसी बस्ती को लूटने में जितनी एकता होती है, लूट के माल के बंटवारे में वही एकता छिन्न-भिन्न होती नजर आती है, कहीं सत्ता के प्रलोभन ने वैसी ही स्थिति तो पैदा नहीं कर दी है ?

चुनावों के समय जो वायदे किए गए थे, उनका क्या हुआ ? कुछ मास के अन्दर ही नई पार्टों के विधिवत् संगठन की घोषणा का क्या हुआ ? अभी नवजात शिशु के जन्म की खुशियां मनाने से फुरसत नहीं मिली थी कि उसकी ‘मौत की घण्टी’ की आवाज सुनाई देने लगी । क्या हुई वह आस्था, वह विश्वास, वह उत्साह, वह जनानुराग, वह भविष्य, वह देश-भक्ति, वह त्याग और वह बलिदान की भावना !

जो लोग खुले बन्दों कहते हैं कि हमें छेड़ा तो तमाशा दिखा देंगे, लगता है कि वे शुरू से ही तमाशा दिखाने की तैयारी कर रहे थे । तमाशाबीन दर्शकों को भी तमाशा अच्छा लगता है । पर इस सर्कस के तम्बू के बाहर जो विशाल जन-समुदाय खड़ा है, उसे इस तमाशे से कोई मतलब नहीं । शायद तमाशा दिखाने वाले कहें कि इस ‘तमाशा’ शब्द के अन्त में भी ‘आशा’ शब्द लगा है, पर झूठे वायदों से अघायी जनता को जनता पार्टों के इस तमाशे में ‘तम’ ही अधिक नजर आता है, आशा नहीं ।

दो प्रोफेसरों का दिमाग खराब हो गया था उन्हें इलाज के लिए पागल-खाने में भर्ती करा दिया गया। वे दोनों अपने कमरे में बैठे बातें करते रहते। बातें बड़ी ऊंची होतीं। अजीब बात यह थी कि जब एक प्रोफेसर बात करता तो दूसरा चुप रहता। दूसरा बात करता तो पहला चुप रहता—हालांकि दोनों की बातें सर्वथा असम्बद्ध होतीं। डाक्टर को हैरानी हुई। उसने कमरे में आकर पूछा कि मुझे यह बात समझ में नहीं आई कि तुम दोनों में एक बोलता है तो दूसरा चुप होकर सुनता क्यों रहता है, वह भी बोलता क्यों नहीं। दोनों प्रोफेसर हंसने लगे। बोले—क्या आप समझते हैं कि हमें वार्तालाप के नियम नहीं मालूम। वार्तालाप का नियम यह है कि जब एक बोले तो दूसरे को चुप रहना चाहिए। डाक्टर ने कहा—जब तुम्हें वार्तालाप का इतना नियम मालूम है तो तुम्हें यह भी तो पता होगा कि बोलने वालों की बातचीत में परस्पर कुछ न कुछ सम्बन्ध होना चाहिए। दोनों पागल फिर हंसे। बोले—हम तो खैर पागल हैं, पर हमने आज तक ऐसे आदमी नहीं देखे जिनकी बातों में कोई परस्पर सम्बन्ध हो।

यह तो पागलखाने के अन्दर की बात है। एक बोलता है, तो दूसरा चुप हो जाता है। पर पागलखाने के बाहर स्थिति सर्वथा उलटी है। यहाँ सब बोलते हैं, कोई चुप नहीं होता। परिणाम यह है कि जो कोई उन सबको बोलते देखकर अपनी ओर से उनमें कोई सम्बन्ध तलाश करना चाहता है तो उसे सर्वथा निराश होना पड़ता है—क्योंकि सबके बोलने पर किसी के शब्द समझ में नहीं आते—कोलाहल से कानों के पर्दे भले ही फटते रहें। जिगर मुरादावादी का एक शेर है—

इस वज्जे-हकीकत की हकीकत मैं क्या कहूँ।

नगमों का तलातुम तो है, आवाज नहीं है ॥

इस संगीत-सभा की असलियत मैं क्या बताऊँ, इसमें नाना तरह के स्वरों का शोर तो बहुत है, पर दिल को दुलराने वाली आवाज किसी में भी नहीं।

पांचाली या 'पथेर पांचाली' !

पांचाल-नरेश राजा द्रुपद ने अपनी कन्या के स्वयंवर के लिए यह शर्त रखी कि तेल के कुण्ड में ऊपर घूमती मछली की परछाईं देखकर जो मछली का अक्षि-वेध करेगा वही उनकी कन्या का पाणि-प्रार्थी बनेगा। दूर-दूर से आए अपने वैभव और बल के अभिमानी राजपुत्रों ने अपने कौशल की परीक्षा दी। पर वे कृतकार्य न हो सके। तब अज्ञात वेषधारी पांच भिक्षुओं की टोली के एक सजीले जवान ने आगे बढ़कर अपने धनुष पर बाण चढ़ाया और सबके देखते-देखते प्रतियोगिता जीत ली। भिक्षुक है तो क्या हुआ—शर्त तो शर्त है। कन्या ने युवक के गले में जयमाला डाल दी। पाँचों भिक्षुक मगन-मगन में अपनी कुटिया पर पहुँचे और बाहर से ही अपनी बुढ़िया माँ को आवाज लगाई—‘माँ ! देखो तो सही, आज हम भिक्षा में क्या लाए हैं ?’ माँ ने बिना देखे ही अन्दर से उत्तर दिया—‘मुझसे क्या पूछते हो ? जो भी कुछ लाए हो, आपस में मिल-बाँट कर खा लो।’

और तब से द्रुपद-सुता उन पाँचों भिक्षुकों की, जो परस्पर भाई थे और बाद में पांच पांडव के नाम से विख्यात हुए, सांझी पत्नी बन गई। हस्तिनापुर के दरबार में जुए में हार कर, ये पाँचों पांडव द्रुपद की शर्तों के अनुसार उस समय अज्ञातवास का जीवन बिता रहे थे। माँ ने भिक्षा में लाई वस्तु को मिल बाँटकर उपभोग का आदेश दिया—माँ का आदेश सिर माथे।

उससे पहले इतिहास में एक राजा की अनेक पत्नियों के दृष्टान्त तो अनेक मिलते हैं, पर एक पत्नी के अनेक पतियों का यह दृष्टान्त अनुपम है। जौनसार-बाबर के इलाके में आज भी यह प्रथा विद्यमान है और वे पर्वतीय लोग अपने आपको पाण्डवों का वंशज बताते हैं। कुछ इतिहासकारों का कहना

है कि बाहर से आक्रमण करने वाली खस जाति में यह रिवाज था और उन्हीं से यह रिवाज भारत में आया। उनके मतानुसार जौनसार-बाबर के लोग उन्हीं खसों के वंशज हैं।

इसमें कोई अनहोनी बात नहीं है क्योंकि शक, हूण, ग्रीक, मंगोल, तातारी, यूची आदि जितनी जातियां यहां आक्रमणकारी बन कर आईं, वे कालान्तर में यहीं बस गईं—यहां के समाज में घुलमिल गईं और उनके बहुत से ऐसे रिवाज, जो पहले इस देश में प्रचलित नहीं थे, धीरे-धीरे स्वीकृति पा गए। भारत में नाना जातियों-उपजातियों का और इतने अधिक रीति-रिवाजों का जो जगड़वाल है, उसका मुख्य कारण यही है कि इस मानव-महासागर में न जाने कितनी अन्य देशों के वंशजों की नदियां आकर मिली हैं। समुद्र में मिलने के पश्चात् उन नदियों का अपना अलग अस्तित्व विलुप्त हो गया है। पर इससे इस महादेश की रंगीनी बढ़ी है, वैविध्य बढ़ा है, अनेकरूपता बढ़ी है—एक हद तक कि नृवंश शास्त्रियों के लिए यह देश मानव-जाति के पालने के रूप में अध्ययन का विषय बन गया है।

पर बात तो द्रौपदी की चल रही थी। उसका एक नाम कृष्णा भी था। हो सकता है, वह कृष्णवर्ण की रही हो। महर्षि व्यास भी कृष्ण द्वैपायन थे। जगता है, उनका रंग भी सांवला रहा होगा। इन महर्षि कृष्ण द्वैपायन द्वारा रचित 'महाभारत' नामक महाकाव्य के नायक श्रीकृष्ण और नायिका कृष्णा (द्रौपदी) होनी ही चाहिए। डा० राम मनोहर लोहिया द्रौपदी को ही महाभारत की नायिका और अद्भुत तेजस्विनी नारी मानते थे। न द्रौपदी होती, न उसके अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए महाभारत होता। शायद उसकी तेजस्विता के कारण ही, पांच पति होने पर भी, द्रौपदी को प्रातः स्मरणीय पंच कन्यकाओं में गिना जाता है। जो भी हो, द्रौपदी इतिहास का ऐसा अद्भुत पात्र है, जिसकी तुलना किसी और ऐतिहासिक पात्र से नहीं की जा सकती।

जो बात द्रौपदी के साथ है, वही बात जनता पार्टी के साथ है। जनता पार्टी का गठन भी इतिहास की अनोखी घटना है। द्रौपदी का एक नाम याज्ञसेनी है। इस नाम का एक कारण यज्ञसेन की पुत्री होना और दूसरा

कारण यज्ञ-सम्भवा होना बताया जाता है। जनता पार्टी भी ग्राम चुनाव रूपी यज्ञ से पैदा हुई है। द्रौपदी के पांच पति थे—जनता पार्टी के भी पांच पति हैं : जनसंघ, भारतीय लोकदल, लोकतांत्रिक कांग्रेस (कांग्रेस फारडेमोक्रेसी), संगठन कांग्रेस समाजवादी दल। कोई सुघड़ पत्नी अपने एक पति को ही संभाल ले, तो गनीमत है, पर द्रौपदी का महिमा देखो—उसने पांचों पतियों को अपने इशारे पर चलाया। उसने उनसे न केवल कुरुक्षेत्र में रण-स्थापना करवाई, प्रत्युत महाभारत में विजयी बनाकर उन्हें इन्द्रपस्थ के राज्य-सिंहासन पर बैठाकर सारे भारत का शासन-सूत्र सौंप कर राजतिलक भी किया। द्रौपदी से कम तेजस्विनी नहीं है जनता पार्टी। जिस नारी का एक भी बलवान पति उसकी रक्षा करने के लिए सन्नद्ध हो, उसकी ओर कोई पराया आदमी कैसे कुदृष्टि डाल सकता है। फिर जिसकी रक्षा करने वाले पांच-पांच पति हों, और सदा सबको निर्भयता का उपदेश देते हों, उसको किसी अन्य का क्या भय ! जिस भीम की गदा के आगे बड़े से बड़े पहलवान थर-थर कांपते थे, जिस भीम से जरासंध जैसे मल्लविद्या में निष्णात, प्रबल प्रतापी राजा को तिनके की तरह चीर कर रख दिया, और जिस भीम ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक—

संचर्णायामि गदया

न सुयोधनोरु

दुश्शासनस्य हधिरे

न पिबाम्युरस्ताः ।

—मैं अपनी गदा से दुर्योधन की जांघ नहीं तोड़ देता और दुश्शासन की छाती से निकाला ताजा खून नहीं पी लेता—तब तक मैं शान्त नहीं बैठूंगा, उस भीम के रहते द्रौपदी की ओर कोई कैसे आंख उठा सकता था, और गाण्डीवधारी अर्जुन—वह तो मत्स्यवेध की प्रतियोगिता का असली विजेता था। वह अपते जीते जो द्रौपदी का अपमान कैसे वर्दाश्त कर सकता था।

महाभारत की द्रौपदी को खतरा औरों से था, पर जनता पार्टी को खतरा गैरों से नहीं, अपनों से है। अब इसके पांचों पतियों में होड़ चली है। सब कहते हैं—मत्स्य-वेध मैंने किया है, मैंने किया है, इसलिए इसका स्वामी मैं हूँ। एक कहता है—अगर मैंने समय पर मंत्रिमंडल से त्याग पत्र न दिया

होता, तो मत्स्य-वेध न होता। दूसरा कहता है—भूमिगत रहकर मैंने तोड़-फोड़ न की होती, तो मत्स्य-वेध हरगिज न होता। तीसरा कहता है—मैं अपने साथियों समेत जेल न गया होता, तो मत्स्य-वेध नहीं होता। चौथा कहता है—मत्स्य-वेध की सारी योजना तो मेरी बनाई हुई थी, मैं न होता तो मत्स्य-वेध सम्भव ही नहीं था। पांचवां कहता है—सस्या बल तो मेरे पास था—उसके बिना मत्स्य-वेध की प्रतियोगिता जीतकर भी तुम द्रुपद-सूता पर अधिकार नहीं पा सकते थे।

ये पाँचों पति मत्स्य-वेध का हकदार अपने आपको समझते हैं, जबकि असलियत यह है कि मत्स्य-वेध का श्रेय इनमें से किसी को भी नहीं है। मत्स्य-वेध का वास्तविक श्रेय उस जनता-जनार्दन नामक अज्ञातवासी भिक्षुक को है जो इस विवाह-मण्डप के बाहर निरीह मुद्रा में खड़ा है, जिसके पास न भीम की गदा है, न अर्जुन का गाण्डीव है, पर जनार्दन श्री कृष्ण का सुदर्शन चक्र अवश्य है।

इसी जनता-जनार्दन ने द्रुपद-सूता, याज्ञसेनी, कृष्णा, पांचाली के पटरानी बनने पर खुशी मनाई थी, और महाकवि तुलसीदास के आदेशानुसार इसे—

राखेउ नयन पलक की नाई

—वैसे ही रखा था जैसे पलकों आंखों को रखती है। उस भिक्षुक जनार्दन ने इस पटरानी के (पतियों के) सभी वायदों पर विश्वास किया था और अब वह उन वायदों की गणना की प्रतीक्षा कर रहा है जिनकी पूर्ति के प्रति वह आश्वस्त हो सके। प्रतीक्षा में उसकी आंखें पथरा गई हैं।

नई दुलहिन के पदार्पण पर उस निरोह भिक्षुक ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया था—

जब लौं गंग जमुन की धारा।

अचल रहे अहिवात तुम्हारा ॥

पर लगता है कि सत्ता-संघर्ष में उलझी यह पटरानी अब स्वयं अपने हाथों से अपनी मांग का सिन्दूर पोंछने की तैयारी में लगी है। अभी तो इस पंचपतिका के हाथों से मेंहदी का रंग भी नहीं छुटा था कि सवा साल में ही इस पांचाली के 'पथेर पांचाली' (पथ की पद यात्री) बनने के लक्षण प्रकट होने लगे।

इमर्जन्ती की अवधि १६ मास थी, क्या इस पांचाली को भी 'पांचाली' बनने में १६ मास से अधिक नहीं लगेंगे ?

फूटी आंख विवेक की

कभी कभी विचित्र समस्या उपस्थित हो जाती है। एक सज्जन कह रहे थे—यह घर पूर्व दिशा में है। दूसरे सज्जन कह रहे थे—नहीं, ऐसा हरगिज नहीं हो सकता, यह घर पश्चिम दिशा में है। एक अंग्रेज कवि ने कहा है न—

पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम,
ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते

ठीक वही दशा उन दोनों सज्जनों की थी। उन दोनों का मिलन बिन्दु कहीं दिखाई नहीं देता था और दोनों का जोश तथा गरमागरमी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। कभी-कभी किसी जरा-सो बात को लेकर ही इतनी कटुतापूर्ण बहस छिड़ जाती है कि सुनने और देखने वाले सब दंग रह जाते हैं।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद स्पष्ट करने के लिए विधाता ने दिन में ही सूरज की मशाल जला रखी है। पर उसी के साथ यह भी तो ठीक है कि उसी विधाता ने इस मशाल की पीठ पर ही अन्धकार को भी प्रतिष्ठित कर रखा है। दिन है तो उसके साथ रात जुड़ी हुई चली आती है और रात है तो उसके साथ दिन।

कभी किसी दार्शनिक कवि ने अभिमान में भर कर कहा था—

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकी वा
यदि पथि विपथे वां यर्तयामः स पन्थाः ।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा
नहि तरुणिरूदीते दिक्पराधीनवत्तिः ॥

—व्याकरण, तर्कशास्त्र अथवा अन्य किसी शास्त्रीय विषय में हम भारतवासियों ने जो कुछ कह दिया—सही या गलत—वही मार्ग बन गया और अन्य लोगों ने उसी को सही मान लिया। ऐसा क्यों न हो? क्योंकि जिस दिशा में सूर्य उदय होता है, वही पूर्व दिशा होती है। सूर्य कभी दिशा की पराधीनता स्वीकार करके उदित नहीं होता।

पाण्डित्य का यह गर्व अपने स्थान पर ठीक हो सकता है पर भगड़े की जड़ भी तो यही है।

कहते हैं कि एक गुरु अपने शिष्य की संस्कृत व्याकरण की शिक्षा दे रहे थे। अकस्मात् एक दिन पढ़ाते-पढ़ाते उनके मुख से 'पुंसु' के स्थान पर 'पुंक्षु' निकल गया। (सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में 'पुमान्' शब्द का 'पुंसु' रूप ही बनता है)। अपने गुरुजी के मुख से व्याकरण की इस प्रकार की अशुद्धि सुन कर शिष्यों के मुख-मण्डल पर स्मित चमक उठा। बाद में गुरुजी को भी अपनी गलती का अहसास हुआ। तब तक उनका विद्याभिमान जागृत हो चुका था। अपने शिष्यों को डांटते हुए बोले—'हंसते क्यों हो, 'पुंक्षु' ही ठीक है, 'पुंसु' नहीं।' और उसके बाद गुरुजी ने अपना अलग व्याकरण लिखा और उसमें 'पुंक्षु' को ही सही बताया। सारस्वत-व्याकरण के अनुयायियों में आज तक 'पुंक्षु' ही सही माना जाता है, 'पुंसु' नहीं।

वेद में एक शब्द आता है—'मम सत्यम्'। आश्चर्य की बात यह है कि यह शब्द युद्ध का पर्यायवाची माना जाता है। 'मम सत्यम्' का शब्दार्थ है—'मेरा सत्य।' क्या सत्य भी कभी किसी व्यक्ति-विशेष की वरपाती होता है? सत्य तो सबका है, सबके लिए है। परन्तु जब कोई व्यक्ति यह आग्रह करता है कि यह मेरा सत्य है, अर्थात् मेरी मान्यता यह है और मैं इसे सत्य मानता हूँ, तो इसका सीधा अभिप्राय यह भी है कि मुझसे भिन्न भी हो सकते हैं। पर 'मम सत्यम्' का हठाग्रही दूसरों की मान्यताओं को अस्वीकार करता है और 'अपने ही सत्य' को दूसरों से भी मनवाना चाहता है। वस यहीं से कलह, संघर्ष और युद्ध प्रारम्भ होता है। 'मम सत्यम्' के युद्ध का पर्यायवाची होने का यही रहस्य लगता है।

पर बात तो पूर्व और पश्चिम की चल रही थी। एक कहता था—वह

घर पूर्व में है, और दूसरा कहता था—यह घर पश्चिम में है। दोनों अपने-अपने 'मम सत्यम्' पर अडिग और अटल थे। वाद-विवाद से आगे शायद मार-पीट की नौबत आती और उसका परिणाम किसी के लिए घातक भी हो सकता था, कि तभी एक तीसरे सज्जन बीच में आ कूदे। इन्होंने दोनों विपरीत मान्यताओं वाले व्यक्तियों को समझाते हुए पहले से कहा कि यह घर आपके यहां से पूर्व में है और दूसरे से कहा कि यह घर आपके यहां से पश्चिम में है, इसलिए आप दोनों ही सही हैं।

गनीमत है कि पूर्व और पश्चिम का यह विवाद अपनी हिंसक परिणित में परिवर्तित होने से पूर्व ही निपट गया और बहस शान्त हो गई। पर चक्कर यही है कि 'मम सत्यम्' का आग्रह करने वाले तो जिधर देखो उधर ही दीख जाते हैं, पर उनको लड़ने से बचाने की समझदारी दिखा सकने वाले व्यक्ति सुदुर्लभ हैं।

सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसको कटने-काटने और भरने-मारने में आनन्द आता है। यह भर-मर कर फिर जी उठता है। इक्कीस-इक्कीस बार इसे भले ही कोई कितना ही निर्वश क्यों न कर दे, पर इसके तेज में कमी नहीं आती। साहित्यकों ने लक्षणा और व्यंजना के माध्यम से इसे कोमल करने और वैश्य-वर्ण में लाने का भरसक प्रयास किया, पर यह जन्मजात गुण छिपा नहीं सका। व्याकरण के पण्डित बताते हैं 'कृती छेदने' धातु से तर्क शब्द बनता है। यहां भाषा-विज्ञान के वर्ण-व्यत्यय का सिद्धान्त काम करता है—ठीक वैसे ही जैसे कि 'हिंस' से 'सिंह' बनता है। पर यह तर्क शब्द वर्ण-व्यत्यय करके भी अर्थ-व्यत्यय नहीं करता, और जब इस तर्क को वावरी जिह्वा का प्रश्रय मिल जाता है, तब तो इसके और भी पंख लग जाते हैं।

विधाता भी कैसा विचित्र है। उसने आंख, कान, हाथ, पैर आदि सब दो-दो दिए हैं, पर जीभ सिर्फ एक दी है। पहले उसने नाक भी एक ही दी थी। पर वाद में जब उसे अपनी भूल का पता लगा तो उसने बीचो-बीच दीवार खड़ी करके एक की दो कर दीं। वह चाहता तो जीभ के लिए भी ऐसी ही कुछ व्यवस्था कर सकता था। पर उसने ऐसा नहीं किया। मनुष्य

पर ही नहीं, विधाता ने पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं समझी। इसका अवश्य कुछ न कुछ विशेष प्रयोजन होना चाहिए।

और वह प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि दो जीभ होने पर मनुष्य में जहां द्विजिह्व (सांप) के गुण आ जाते, वहां से उसे तर्क अथवा बहस के लिए किसी दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे दोनों भाग आपस में ही लड़ते रहते। एक जीभ कहती—यह मीठा है, तो दूसरी जीभ कहती—नहीं, यह तो कड़वा है।

मनुष्य की वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है। अन्य ज्ञानन्द्रियों की दृष्टि से देखें तो जानवर मनुष्य को कहीं पीछे छोड़ जाएंगे। कुत्ते की घ्राण-शक्ति चीते की गति और शृघ की दृष्टि-शक्ति का मुकाबला मनुष्य नहीं कर सकता। वाणी ही एक मात्र ऐसा तत्त्व है जिसमें मनुष्य अन्य सब प्राणियों से आगे है। पर जितना दुरुपयोग मानव जीभ का करता है, उतना किसी अन्य अंग का नहीं। अपनी वाणी हरि-महिमा के स्थान पर अपनी ही महिमा दिन रात गाती रहे, अपने ही अहं का विस्फोट करती रहे, और दूसरों को नीचा दिखाने में ही अपनी कृतकार्यता समझती रहे, तो जीभ का इससे बढ़कर दुरुपयोग और क्या होगा !

समाज में रहकर जिसने वाणी का संयम नहीं सीखा उसने अपना और दूसरों का कष्ट ही कष्ट बढ़ाया। जब कोई किसी की निन्दात्मक आलोचना करता है तो बदले में वह प्रत्यालोचना का आह्वान करता है और इस तरह आदान-प्रदान का एक कभी न समाप्त होने वाला सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है। सन्त कबीर ने कहा है—

आवत गाली एक है, उलटे होत अनेक।

कहै कबीर मत उलटिये, वही एक की एक ॥

राष्ट्र-हित और समाज-हित के लिए जिनसे वाणी के जितने अधिक संयम की अपेक्षा थी वे व्यक्तिगत हितों के चक्कर से पड़कर घर को पूर्व में या पश्चिम में बताने की निरर्थक बहस में उलझ जाएं तो लगता है कि विवेक की आंख फूट गई है। फिर कबीर बाबा की ही बात याद आती है—

फूटी आंख विवेक की लखे न सन्त असन्त।

जाके संग दस बीस हैं ताकी नाम महन्त ॥

मेरी गजल में तखल्लुस किसी का फिट कर दो

महाराष्ट्र की विधानसभा में एक सदस्य ने कहा है कि आज कल आवास-सम्बन्धी तथा अन्य सुविधाओं का जहां तक सवाल है, इन्सानों से ज्यादा किस्मत वाली तो भैंसें हैं। एक तरफ तो हजारों लोगों को जब सोते की और कोई जगह नहीं मिलती तो वे फुटपाथों पर सोने हैं, दूसरी तरफ गोरेगांव जैसे इलाकों में एक भैंस को कम से कम साढ़े तेरह वर्गमीटर जगह उपलब्ध है और प्रतिदिन कम से कम साढ़े चार सौ लीटर पानी भी उपलब्ध है। इतना ही नहीं, इन भैंसों को रेडियो सेट भी उपलब्ध कराए गए हैं, ताकि संगीत के वातावरण में वे अधिक दूध दे सकें।

मनुष्य के पास भैंसों के भाग्य पर ईर्ष्या करने का कारण तो पर्याप्त है, पर भैंस में कुछ ऐसे गुण हैं जो मनुष्य में नहीं हैं।

‘अक्ल बड़ी या भैंस’—बहुधा यह प्रश्न किया जाता है। और इसका सीधा अर्थ यह है कि भैंस का असली प्रतिद्वन्दी केवल अक्ल है। जब उक्त प्रश्न का उत्तर सोचते सोचते आपने अक्ल के पक्ष में फैसला दिया तो अब कोरी अक्ल को लेकर चाटते रहिए—दूध तो आपके पल्ले पड़ने से रहा। दूध चाहिए तो भैंस की सेवा करिए और भैंस की सेवा करनी है तो अक्ल की सेवकाई से इस्तीफा दीजिए। नीतिज्ञों ने कहा है न—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धिः परांगतः।

द्वावेव सुखमेवेते क्लिश्यन्तरितो जनः।

—दुनियां में दो ही आदमी सुख भोगते हैं—एक तो परले दर्जे का भूढ़ और दूसरा परले दर्जे का बुद्धिमान। बीच का आदमी तो कष्ट ही कष्ट पाता

है। परले दर्जे का बुद्धिमान या ज्ञानवान बनने का सौभाग्य तो विरले ही योगियों को सुलभ है, और परले दर्जे का मूल्य हम और आप स्वयं को मानेंगे नहीं। फिर सिवाय कष्ट भोगने के और चारा हो क्या है? (संभल के रहिये, कहीं आपका यह बचाखुचा 'चारा' भी भैंस भवानी न चर जाए!)

एक कवि की कल्पना देखिए—उसने भगवान से क्या मांगा है। कवि कहता है—

माहिपं दधि सशर्करं पयः कालिदास-कविता नवं वयः।

एणमांसमबला सुकोमला एतदस्तु मम जन्म जन्मनि ॥

—चीनी मिला, मलाई की मोटी परत वाला, भैंस का गाढ़ा दूध हो और उसी भैंस के दूध का चक्का-सा जमा दही हो, कालिदास की कविता हो, जवानी की नई उम्र हो, हरिण का मांस हो और नवनीत-कोमलांगी वामांगी हो—वस मुझे जन्म-जन्मान्तर में यही चाहिए, इसके सिवाय और कुछ नहीं चाहिए।

कहिए—इस कवि के भाग्य से भी आपको ईर्ष्या हो रही है क्या!

भैंस का एक गुण और भी है। वह भी एक कहावत से ही पता लगता है। कहावत है—'भैंस के आगे बीन बजाय, भैंस खड़ी पगुराय।' भैंस तो पगुराएगी ही, आप चाहे बीन बजाइए या मत बजाइए। और आप क्या सोचते हैं कि आपका रेडियो सेट पाकर भैंस पगुराना वन्द कर देगी? चाहे बीन हो, चाहे रेडियो, भैंस तो पगुराएगी ही। नहीं पगुराएगी तो आपको दूध कहां से मिलेगा?

भैंस का सबसे अधिक आनन्द का क्षण वह होता है जब वह किसी की चड़ भरे तालाब में नस्त होकर पड़ो होती है। योगियों ने जिस रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा है और जो रस उन्हें दीर्घकाल तक साधना करने के पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि में पहुंचने पर ही प्राप्त होता है। उसी परमानन्द को पंकिल-सलिल पल्लव में पड़ो यह महिषी अनायास प्राप्त कर लेती है। राज-पाट और राजसी ठाठ-बाठ में शायद राजमहिषी को इतनी चिन्तामुक्ति सुलभ न हो, जितनी चिन्तामुक्ति क्लेश-कर्म-विपाक-आशय से अपरामृष्ट इस भैंस भवानी को प्राप्त होती है। इस अंश में यह सामान्य महिषी भी राज-

महिषी से कहीं बढ़ चढ़ कर है। फिर महिषी महिषी सब एक समाना—क्या राजा क्या रंक गिनाना।

एक जैन कथा है—जिनपुर का राजा सोमदेव घोड़े पर चढ़कर शिकार खेलने गया। उसने जंगल में पहुँच कर अपने अनुचरों को हाँके का आदेश दिया। हाँका होते ही कन्दराओं और झाड़ियों से निकल कर तरह तरह के जानवर इधर उधर भागने लगे। शेर, चीता, हाथी, भालू, मृग जैसे जानवरों और शुक, हंस, कपोत, मयूर आदि पक्षियों को देख कर राजा मुग्ध हो गया—सृष्टि इतनी रंग बिरंगी और इतनी सुन्दर है, मुझे पता नहीं था। अगर ये सब पशु-पक्षी मार डाले जाएंगे तो वनों की शोभा और सृष्टि का वैविध्य नष्ट हो जाएगा। उसी दिन से राजा ने शिकार खेलना छोड़ दिया और हंसदेव नामक एक जैन मुनि को उनके सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखने का काम सौंपा। मुनिश्री ने 'मृग-पक्षिशस्त्र' नामक यह पुस्तक तेरहवीं सदी में लिखी थी। इस पुस्तक में पशुओं और पक्षियों की २२५ जातियों का उल्लेख है जिसमें उनका रूप-रंग, आकार-प्रकार, स्वभाव, भोजन, आयु तथा अन्य विशेषताओं का रोचक वर्णन किया गया है।

इस लेखक के अनुसार पशु-पक्षियों में रजोगुण और तमोगुण ही अधिक होते हैं और उनमें भी उत्तम, मध्यम, अधम ये तीन भेद हैं। सिंह, हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, हंस, सारस, कोयल, कबूतर आदि उत्तम राजस हैं। चीता, बकरा, मृग, बाज आदि मध्यम हैं और भालू, भैंस, गैंडा आदि अधम राजस हैं। लेखक ने सबकी आयु का भी उल्लेख किया है। हाथी की अधिकतम आयु १०० वर्ष और गाय-बैल-भैंस आदि की आयु २० वर्ष बताई गई है। इसी प्रकार अन्य जानवरों की आयु का भी उल्लेख है। इसमें राजमहिषी की आयु का उल्लेख नहीं है वह 'मृग-पक्षिशस्त्र' का विषय भी तो नहीं है।

पर एक बात जानकर आश्चर्य होगा, किसी जमाने में पशु-पक्षियों पर भी मनुष्यों के समान ही अभियोग चलाए जाते थे। एक बार एक कुत्ते ने गांव के पंच की टांग में काट खाया। पंच ने मुकदमा दायर किया। कुत्ते के स्वामी को कारागार में डाल दिया गया। स्वामी ने कहा—'इसमें मेरा कोई अपराध नहीं। कुत्ते ने काटा है, मैंने नहीं। न्यायालय को यह युक्ति जंची और उसने स्वामी को छोड़कर कुत्ते को एक वर्ष के कारावास का दण्ड दे दिया। एक

मेरी गजल में तखल्लुस किसी का फिट कर दो १४५

बार एक कुत्ते के काटने से एक आदमी मर गया, तो कुत्ते को बाकायदा मृत्युदण्ड दिया गया। मजेदार बात यह है कि इस प्रकार पशुओं को दण्ड देते समय उन्हें मनुष्यों के से कपड़े पहनाए जाते थे। भाव यही था कि पशु भी मनुष्य जैसे ही अपराधी हैं।

एक बार जर्मनी में मधुमक्खियों पर एक अभियोग चलाया गया। मधुमक्खियों के काटने से एक नागरिक की मृत्यु हो गई थी। न्यायालय ने निर्णय दिया कि इन मधुमक्खियों को धुएँ से दम घोट कर मार दिया जाए।

पशु अपने कर्मों के लिए कहां तक जिम्मेदार है, उस जमाने के लोगों ने इस बात पर गौर नहीं किया। मनोविज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि पशुओं से नैतिक जीवन की आशा नहीं की जा सकती। वह भोग योनि है, कर्म-योनि नहीं। पशु अपने सब काम अपनी मानसिक सहजवृत्ति (इन्स्टिक्ट) के आधार पर करते हैं, बुद्धिपूर्वक विचार करके नहीं।

पर महिष तंत्र में भैंस अक्ल से बड़ी मानी जाती है। जब राजमहिषी-तंत्र था तब राजमहिषियों को बिना मुकदमा चलाए कारागार में डाला गया और उनको महिषियों के से कीचड़ भरे वातावरण में ही रखा गया। अब महिष तंत्र है तो फिर राजमहिषी पर मुकदमे की चर्चा है। फर्क इतना है कि पहले न वकील था, न अपील थी, न दलील, अब ये तीनों चीजें होंगी। अगर महिष तंत्र में राजमहिषियों पर मुकदमा नहीं चलेगा तो और कब चलेगा?

मनुष्य से अधिक सुविधाओं का उपभोग करने वाली महिषियों की चर्चा करते करते राजमहिषियों तक आ गए। हो सकता है कि महिषी और मनुष्य की तुलना के इस महिषी-पुराण में आपको कोई संगति नजर न आती हो। यह स्वाभाविक भी है। जब तक भैंस को अक्ल से बड़ा नहीं मानेंगे तब तक उसमें संगति की तलाश भी व्यर्थ ही रहेगी। हां, अपनी बात समाप्त करने से पहले पाकिस्तान के एक दिल-पसंद दिलावर नामक शायर का यह शेर जरूर अर्ज है—

मेरी गजल में तखल्लुस किसी का फिट करदो।

तखल्लुस की इस शहर में कमी क्या है?

तखल्लुस माने उपनाम। और वह उपनाम महिष-महिषी-राजमहिषी—
कुछ भी हो सकता है।

जनाब को जनाब न कहें

“आइए जनाब ! बहुत दिनों बाद आपके दर्शन हुए । कहिए, क्या हाल हैं ?”

“हमें ‘जनाब’ क्यों कहते हैं ?”

“क्यों, जनाब कोई घुरा शब्द है क्या ?”

“लगता है, आपको ‘जनाब’ शब्द का अर्थ नहीं मालूम, इसीलिए आप जनाब-जनाब कहे जा रहे हैं । देखिए, जनाब में तीन अक्षर हैं—ज से जाहिल, ना से नालायक और व से बदतमीज । क्या आप हमें जाहिल, नालायक या बदतमीज समझते हैं जो जनाब कहते हैं !”

“बाबूजी ! गलती हो गई । यदि जनाब का यह अर्थ पता होता, तो हम हरगिज आपके लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं करते ।”

“कृपा करके आप हमें ‘बाबूजी’ भी मत कहिए ।”

“क्यों इसमें भी कुछ गड़बड़ है क्या ?”

“हां, ‘बा-बू’ का अर्थ है—बू के साथ अर्थात् दुर्गन्धयुक्त । आपको हममें दुर्गन्ध आती है क्या ?”

“श्रीमान् जी ! भूल हुई । ‘बाबू’ का यह अर्थ आज तक हमारी जानकारी में नहीं था ।”

“आप हमें ‘श्रीमान्’ भी मत कहिए ।”

“क्यों, यह तो शिष्टजनानुमोदित शब्द है । इस पर आपको क्या आपत्ति है ?”

“देखिए, श्री हमारे पास है नहीं, मान हम किसका करेंगे ? फिर ‘श्री

मान्' शब्द सुनकर लगता है कि आप हमारी गरीबी का मजाक उड़ा रहे हैं।”

“अब आप ही बताइए कि आप जैसे सज्जन को अब किस शब्द से सम्बोधित करें।”

“भले ही कुछ भी कहिए, पर कृपया ‘सज्जन’ शब्द का प्रयोग हमारे लिए मत करिए। हमारे जैसे सीधे सादे लोग साज-सज्जा क्या जानें, फिर ‘जन’ में हमें फारसी के ‘जन’ की ओर जनबे की गन्ध आती है।”

बड़ी मुश्किल हो गई। आगन्तुक महोदय ने हमारी जवान ऐसी बन्द कर दी कि अब तो मुख से कोई भी शब्द निकालते डर लगने लगा। हम चाहे कितनी ही सदाशयता से किसी शब्द का प्रयोग क्यों न करें, पर लगता है कि ये अपनी वागविदग्धता के आगे टिकने नहीं देंगे।

संस्कृत साहित्य में राधा और कृष्ण के तथा शिव और पार्वती के ऐसे अनेक श्लोक-वद्ध संवाद आते हैं जिनमें एक पक्ष किसी विशेष अर्थ को लेकर एक प्रयोग करता है तो दूसरा पक्ष उसका दूसरा अर्थ लेकर पहले अर्थ को निरस्त कर देता है। साहित्य-रसिकों के लिए वह मनोरंजन का विषय है।

‘शंकर दिग्विजय’ में वर्णित एक प्रसंग स्मृति-पथ पर उतर रहा है। प्रतिवादि-भयंकर आचार्य श्री शंकर माहिष्मती नगरी में कुमारिल भट्ट के पट्ट-शिष्य विश्रुत विद्वान् मण्डन मिश्र के द्वार पर पहुँचे। मण्डनमिश्र ने पूछा—‘कुतो मुण्डी?’—अर्थात् संन्यासिप्रवर! आपका कहां से आना हुआ? पर शंकराचार्य ने ‘मुण्डी’ शब्द का ‘मुँडा हुआ’ अर्थ लेकर उत्तर दिया—‘आगलान्मुण्डी’—अर्थात् गले से ऊपर मेरा सिर मुण्डित है।

इस पर मण्डनमिश्र को ताब आ गया। कुछ आवेश के साथ बोले—
किमु सुरा पीता?

—क्या तुमने शराब पी रखी है जो बात का सही उत्तर नहीं देते?

शंकराचार्य इस पर भी बड़े सहज भाव से ‘पीता’ शब्द का भिन्न अर्थ लेकर बोले—

सुरा श्वेता, नैव पीता।

—शराब तो सफेद होती है, पीली थोड़ी होती है।

यह उत्तर सुनकर मण्डन मिश्र का पारा और चढ़ गया और उसने गुस्से में आकर कहा—

श्वेतो धावति न वा ?

—सफेद के बच्चे, यहां से भागता है या नहीं !

पर शंकराचार्य भी अद्भुत संयम के धनी थे । पूरे धैर्य के साथ 'श्वेतः' शब्द को भिन्न अर्थ लेकर (श्वा + इतः) बोले—

श्वा इतो न धावति ।

—कुत्ता तो यहां कहीं दौड़ता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता ।

इस प्रकार दोनों दिग्गज विद्वानों की आपस में चोंचें लड़ती रहीं ।

अन्त में जब मण्डनमिश्र को विदित हुआ कि ये अद्वैत मत के प्रवर्तक स्वनामधन्य श्री शंकराचार्य हैं, तब उनका उचित आतिथ्य किया । दोनों का शास्त्रार्थ हुआ । उसमें मण्डनमिश्र पराजित हुए और शास्त्रार्थ की शर्त के अनुसार मण्डनमिश्र ने शंकराचार्य के मत को स्वीकार कर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया । शंकराचार्य ने भी मण्डनमिश्र को सन्यास की दीक्षा देकर सुरेश्वराचार्य नाम दिया और उन्हें ज्योतिर्मठ (जोशीमठ—बद्रीनाथ) के प्रथम शंकराचार्य के पद से अभिषिक्त किया ।

पर वह विषयान्तर है । चर्चा तो शब्दों के विभिन्न अर्थों की चल रही है । शब्द स्वयं ब्रह्म है और शब्द के स्फोट से ही सृष्टि की रचना बताई जाती है । कहा जाता है कि शब्द तो वर्णात्मक है, उसका आदि रूप केवल नादात्मक था । जिस शब्द से सृष्टि की रचना हुई, वह भी वर्णात्मक न होकर नादात्मक था । दार्शनिक दृष्टि से शब्द आकाश का गुण है और आकाश नित्य है । इसलिए शब्द भी नित्य है पर इस नीरस दार्शनिक बहस की गहराई में गए बिना भी शब्द की महिमा अत्यन्त स्पष्ट है । साहित्य का तो सारा ताना बाना ही शब्द और अर्थ को लेकर बुना जाता है । कविकुल-बूझामणि कालिदास ने इसीलिए शब्द और अर्थ के युगल को जगत्-रचयिता शिव और पार्वती के युगल से उपमा दी है ।

शब्द और अर्थ से खेलने वाले साहित्यकारों ने जहां शब्दों का विस्तार करके साहित्य को सार-हीन बनाने का प्रयत्न किया है, वहां उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अब ऐसे साहित्यकारों का भी उदय हो रहा है जो अत्यन्त संक्षेप में

अपनी बात कह जाते हैं। हाइकु नामक जापानी शैली की लघु कविता उसी प्रवृत्ति का परिणाम है। एक लघु-कविता देखिए—

आग की बूंद
चू पड़ी टहनी से।
अरे ! जुगनु !

लगता है, इस छोटी सी कविता में जैसे पूरा काव्य समा गया है।

आरमेनिया की एक कवयित्री है जिसका नाम है सिल्वा कपुतिक्यान। उसने तो अपने प्रियतम तक संदेश पहुंचाने के लिए शब्द और अर्थ दोनों की ही छुट्टी कर दी। वह कहती है—

हवा के पंख पर तिरता हुआ
संदेश मेरा
तुम तक पहुंचता है
तुम्हारे सम्बन्ध में भी
जानना जो चाहती
वह हवा से जान लेती हूं
सम्पर्क-साधन क्या टूटे कहीं ?
...ओह नहीं !

ऐतिहासिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अपने वाग्वैदग्ध्य के लिए विख्यात हैं। यदि उनसे विदा लेते समय कोई कहे कि 'दया रखियेगा', तो बहुत सम्भव है कि वे उत्तर दें—'उलट कर रखिएगा।' इस पर कोई अचकचाए तो वे सहज भाव से बताएंगे कि 'दया' को उलट कर रखने से मेरा अभिप्रायः है।

भारतीय हिन्दी परिषद के हैदराबाद अधिवेशन का प्रसंग है। निबन्ध-गोष्ठी के अध्यक्ष थे श्री शिवमंगल सिंह सुमन। किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए सुमनजी ने आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी को आमंत्रित करते हुए उच्छ्वसित भाव से कहा—'जैसा कि मुहावरा है, वे उन रोमन महापुरुषों में अंतिम हैं.....आदि आदि।' मिश्रजी ने खड़े होते ही जो पहला वाक्य बोला, वह यों था—'जरा देखिए, शिवमंगल जी 'सुमन' होते हुए मुझ

जैसे 'हैममन' को 'रोमन' बता रहे हैं और उनमें भी अन्तिम ।'

उन्हीं मिश्र जी के जीवन का एक और प्रसंग है। एक गोष्ठी में किसी साहित्यिक संस्था की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए चन्दे की चर्चा चल रही थी। चर्चा देर तक चलती रही तो आतिथेय गृहपति ने उपस्थित विद्वानों से अनुरोध किया कि आप लोग खाना यहीं खा लें। मिश्र जी किसी के यहां खाना आसानी से खाते नहीं। उठते हुए बोले—“आप लोगों की हजारों लाखों की चर्चा में ही यदि उलझा रह गया तो मुझे चारपाई (इसमें भी श्लेष है) तक नसीब न होगी, अतः आप लोग खाना खायें और मैं 'खाना' के ख को र और व समझ कर खाना होता हूँ।”

हरि-कथा की तरह शब्द और अर्थ की यह कथा भी अनन्त है। इस चक्कर में एक बार पड़ जाने पर आसानी से छुटकारा सम्भव नहीं। इसलिए शब्द और अर्थ के श्रक के नाम पर ही तान तोड़ते हुए इस शेर के साथ बात खत्म करें—

आशिकी का हो बुरा इसने बिगाड़े सारे काम ।

हम तो ए-बी में रहे अगियार बी. ए. हो गए ।

जरा इस 'ए-बी' पर भी गौर करिए। यह केवल बी. ए. का उल्टा ही नहीं है, इसका सम्बन्ध 'एबी' के साथ भी है।

सदा रहत पावस ऋतु हम पर

यों तो हरेक ऋतु का अपना-अपना महत्व है, पर छहों ऋतुओं में से पावस में जिस प्रकार हरित-वसना होकर धरित्री अपने नए रूप में सज-संवर कर इठलाती है, वह शायद भारत की अपनी विशेषता है। 'गरम मुल्क' कहलाने वाले कृषि-प्रधान देश के लिए यह स्वाभाविक भी है। इसीलिए आदि-कवि से लेकर आधुनिक कवि तक कोई भी इस ऋतु के जादूई स्पर्श से अछूता नहीं रहा। संस्कृत के एक कवि ने लिखा है—

महीमण्डलीमंडपीभूत पाथो—
धरारब्धहर्षामु वर्षामु सद्यः ।
कदम्बे प्रसूनं प्रसूने मरन्दो
मरन्दे भिल्लिदो भिल्लिदो मदोऽभूत ॥

—पृथ्वी मण्डल पर चंदोवे के समान छाये बादलों ने जब सब ओर पानी के साथ साथ हर्ष की वर्षा कर दी तब कदम्ब वृक्ष पर फूल खिल उठे, फूलों में पराग-रस भर गया, पराग पर भँरे दूट पड़े और भँरों में मस्ती छा गई।

एक और कवि ने अद्भुत शब्द-चमत्कार की योजना करते हुए लिखा—

दिशां हाराकाराः शमित शमभाराः शमवतां
असूची संचाराः कृतमदविकाराश्च शिखिनाम् ।
हृताब्ध व्यापाराः तुहिनकरसारा विरहिणी—
मनः कीर्णागाराः किरति जलधारा जलधरः ॥

—जैसे कोई हार कण्ठ को घेर लेता है, वैसे ही चारों ओर से दिशाओं को घेर कर, संयमियों के संयम पर लात मार कर, संचार भागों पर अंककार

की छाया कर, मयूर-मण्डली को मस्ती में नचाकर, व्यापार-मार्गों को अवरुद्ध कर, अपने हाथों में ठण्डे ठण्डे जलकण लेकर और विरहिणी के मन के अंगारे बिखेर कर यह जलधर जल की धाराएं बरसा रहा है ।

विरहिणी के मन के अंगारों को लक्ष्य करके ही किसी सदाशयी ने प्रवासी पथिक को परामर्श दिया—

शिखिनि कुजति गर्जति तोयदे
स्फुटति जातिलताकुसुमाकरे ।
अहह पान्थ न जीवति ते प्रिया
नभसि भासि न यासि गृहं यदि ॥

—हे पान्थ ! जब मोरों की 'पिहूपिहू' पुकार दिशाओं को गुंजा रही हो, बादल सांस भर-भर कर गरज रहे हों, और मालती की लता फूलों से भर उठी हो, ऐसे श्रावण मास में भी यदि तू घर नहीं जाएगा तो तेरी प्रिया तुझे जीवित नहीं मिलेगी ।

पथिक को कोई कितना ही सत्परामर्श क्यों न दे, पर विरहिणी प्रिया के जीवित रहने के आसार दृष्टिगोचर नहीं होते । जब प्रकृति ही हाथ धोकर किसी के पीछे पड़ जाए तो विचारी अबला कर ही क्या सकती है । यहां भी कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

मेधैर्व्योम नवाम्बभिः वसुमती विद्युत्लताभिर्दिशो
धारामिर्गगनं वनानि कुटजैः पूरैर्वता निम्नगाः ।
एकां घातयितुं वियोग-विधुरां दीनां वराकीं स्त्रिय
प्रावृट् काल हताश वरुण्य कृतं मिथ्या किमाडम्बरम् ॥

—अरे ओ बरसात के मौसम ! तूने मेघों से आकाश ढक दिया, पृथ्वी पानी में भर दी दिशाओं में बिजलियों की तलवारें चमका दीं, अन्तरिक्ष को धाराओं से आप्लावित कर दिया, वनों में चारों ओर कटुजपुष्प छितरा दिए और नदियों में भीषण वाढ़ ला दी, तू सच सच बता—क्या तू इतना हताश-निराश हो चुका है कि एक विचारी दीन-हीन, गरीब विरहिणी को मारने के लिए तुझे इतनी सेना सजानी पड़ी है, इतना आडम्बर करना पड़ा है ?

बरसात के मौसम को कवि की इस डांट पर भी, पता नहीं, शरम आवेगी

या नहीं ! परन्तु न कवि अपनी उक्ति से बाज आता है, और न बरसात का मौसम अपनी ढिंढाई छोड़ता है। बरसात के मौसम की इस ढिंढाई को जानकर ही एक अन्य कवि ने पहले से ही इसका एक समुचित उपाय सुझा दिया है—

नभसि जलदलक्ष्मीं सासूया वीक्ष्यदृष्ट्या
प्रवससि यदिकन्तेत्यर्घमुक्त्वा कथंचित् ।
मम पटमवलम्ब्य प्रोल्लिखन्ती धरित्रीं
तदनु कृतवती सा यत्र वाचो निवृत्ताः ॥

—आसमान में बादलों की छटा देखते ही प्रिया की आंखें नम हो गयीं ! बोली—‘हे कान्त ! तुम ऐसे में घर छोड़ कर जाओगे...’ येन केन प्रकारेण इस प्रकार आधा वाक्य बोलकर ही वह दामन पकड़ कर घरती कुरेदने लगी। उसके बाद उसने जो कुछ किया वहां तो वाणी भी निवृत्त हो गई। जब कवि की ही वाणी निवृत्त हो गई तब सामान्य जनों की वाणी का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

श्रावण का महीना गीतों और पर्वों का महीना है। दोनों एक दूसरे से जैसे होड़ करते हैं। जब कोई मौसम जन-जन के मन को भाव-विभोर कर देता है, तब उसकी जैसी छटा उस प्रदेश के लोकगीतों में दिखाई देती है, वैसी शायद पण्डितों की अभिजात वर्गीय संस्कृत भाषा में नहीं। हरियाणा का एक लोकगीत देखिए—

छम छम नाचूँ सब नारी,
मैं बैट्टी दुःखा की मारी।
मेरे मन में जब अंधेर मच्यो
ते चांद का चान्मण क्यूँ आया ?
इब पी आया जी खिल्या नहीं,
जिब जी आया पी मिल्या नहीं।
साज्जन बिन जोबन क्यूँ आया
जोबन बिन सावन क्यों आया?

घरती और मेघ का जो प्रणय पावस में प्रारम्भ होता है उसकी निशानी ‘पवन चले पुरवाई’ है। इस ‘पुरवाई’ शब्द में ही यह बात छिपी है कि इस

१५४ देवता : कुर्सी के

महादेश में उसकी शुरुआत पूर्वी भारत से होती है। और पूर्वी भारत का नाम जवान पर आते ही रवि बाबू की याद न आवे, यह कैसे हो सकता है। पावस में प्रकृति के इस प्रणय ने विश्वकवि को भी कम भाव-विह्वल नहीं किया। वाणी के साथ उनकी लेखनी भी पावस के कलकल छलछल के साथ जैसे कुल-बुलाने लगती है और उनके गीत पर गीत निकलते चले जाते हैं। एक गीत देखिए—

वादल बाउल बाजाय रे एकतारा
 सारा बेलाघरै भर भर भर धारा
 जामेर बने धानेर खेत,
 आपनि ताने आपन मेते
 नेचे नेचे हल सारा
 घन जटार घटाय घनाय आघार आकाश मांभे
 पाताय पाताय दुपुर दुपुर नूपुर मधुर बाजे ।
 घर छाड़ानो आकुल सुरे
 उदास हये बेड़ाय घूरे
 पूछे हावा गृहकारा ॥

—यह बादल का बाउल (बंगाल का बनजारा लोकगायक) इकतारे पर गीत बजा रहा है और भर भर की अजस्र धारा बह रही है। जामन के वन में और धान के खेत में वह अपनी तान में आप ही मस्त होकर नाच रहा है। ये बादलों की घटा क्या है—जैसे आकाश में निशीथ की जटाएं फैली हुई हैं। और पत्तों पर टप-टप करके पड़ती बूंदें जैसे नूपुर की मधुर ध्वनि है। अरे यह पुरवाई और कुछ नहीं—घर की कारा से निकल कर आवारा लड़का अपने उदास आकुल स्वरो में गाता इधर उधर भटकता फिर रहा है।

यह पावास ऋतु तो ऐसी है जो साल में सिर्फ एक बार आती है। पर भक्तों की पावस ऋतु कभी जाती ही नहीं। जब कृष्ण गोकुल की गोपियों को छोड़ कर मथुरा चले गए और कुब्जा की सेवा से प्रसन्न होकर वहीं रम गए, तब गोपियों को उम्मीद हुई कि सावन में तो हरि आवेंगे ही, पर कृष्ण मनभावन सावन में भी नहीं आए। तब गोपियों की विरह-दशा देखिए—

निजि दिन वरसत नैन हमारे ।

सदा रहत पावस ऋतु हम पर
 जब ते स्याम सिधारे ।
 अंजन धिर न रहत अंखियन में
 कर कपोल भये कारे
 कंचुकि पट सूखत नहि कवहूं
 उर बिच बहत पनारे ।
 आंसु सलिल भये पग थाके
 वहे जात सित तारे ।
 सूरदास अब डूबत है ब्रज
 काहे न लेत उबारे ॥

—पता नहीं, कृष्ण को गोपियों पर कभी दया आएगी या नहीं ? क्या गोपियों की आंखें सदा ही बरसती रहेंगी ? क्या वे लीलाघर डूबते ब्रज को उबारेंगे नहीं ?

पत्रा ही तिथि पाइये

कुछ लोग कहते हैं कि यह विज्ञान का युग है। बात सत्य हो सकती है। परन्तु तभी कोई कान में आकर कहता है—‘नहीं, यह अन्धविश्वास का युग है।’ बात यह भी सत्य हो सकती है। शायद यह भी सत्य और शायद वह भी सत्य—ऐसा कहने पर शायद आप हमें स्याद्वादी कहने लग जाएं, परन्तु दोनों उक्तियों की धोषणा करने वाले जब अपने-अपने पक्ष में प्रमाणों और उदाहरणों का अम्बार लगा दें, तब स्याद्वादी हुए बिना चारा नहीं।

किसी जमाने में प्रेतात्माओं से बात करने वाले और परलोक के समाचार इस पृथ्वी लोक तक पहुंचाने वालों की बड़ी धूम थी। उस समय उन माध्यमों की वड़ी पूछ थी जो प्लांचेट के सहारे मृतक सम्बन्धियों के सन्देश जीवित सम्बन्धियों तक पहुंचाते थे। कभी-कभी अपने पूर्वजन्म का विवरण बताने वाले बालक-बालिकाएं भी व्यापक चर्चा का विषय बनकर पूजित हो जाते हैं।

पर आजकल सबसे अधिक पूछ ज्योतिषियों की है। कोई ऐसा बड़ा समाचार पत्र नहीं मिलेगा जिसमें भविष्यफल का अलग स्तम्भ न हो। फिर जो ज्योतिष सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएं हैं उनके तो अस्तित्व का मुख्य आधार ही यह है। व्यापारी को तेजी-मन्दी की भविष्यवाणी चाहिए। किसान को वर्षा और सूखे की भविष्यवाणी चाहिए। आम नागरिक को प्रतिदिन के मौसम की भविष्यवाणी चाहिए ताकि दफ्तर के लिए घर से निकलते समय छाता साथ लेने या न लेने के विषय में निश्चय कर सके।

पर ज्योतिष की सबसे अधिक जरूरत पड़ती है—राजनीतिज्ञों को। बात

यह है कि अब राजनीति में नीति तो रह नहीं गई और लक्ष्मी के समान सत्ता की कुर्सी एकदम चंचल हो उठी है, इसलिए प्रत्येक मन्त्री की कुर्सी के किसी न किसी पाए के साथ कोई न कोई ज्योतिषी अवश्य जुड़ा हुआ है, ताकि राजनीतिज्ञ की उस चंचल कुर्सी को अपने ज्योतिष-बल से स्थिरता प्रदान कर सके।

आजकल अन्य सभी क्षेत्र राजनीति के अनुचर हैं, पर स्वयं राजनीति को अनुचर बनाने का किसी को श्रेय प्राप्त है, तो निस्सन्देह ज्योतिष को। एक संस्कृत के कवि ने ज्योतिषी के मुख से कहलाया है—

चतुरंग बलो राजा जगतीं वशमानयेत् ।

अहं पंचांगबलवान् आकाशं वशमानये ॥

—राजा यदि चतुरंग (चतुरंगिणी सेना) के बल पर पृथ्वी को वश में कर सकता है, तो मैं पंचांग के बल पर आकाश को वश में कर सकता हूँ, और क्यों न करें? क्योंकि उसके पास ऐसे-ऐसे लटके हैं जिससे चित भी उसकी, पट भी उसकी और अष्टा उसके दाऊ का। यहां भी संस्कृत के एक कवि ने पते की बात कही है—

प्रमोदे खेदे वाप्युपनमति पुंसां विधिवशात्

मयैवं प्रागेवाभिहित-मिति मिथ्या कथयति ।

जनानिष्टानिष्टाकलन-परिहारैक निरतान्

असौ मेषादीनां परिगणनयैव भ्रमयति ॥

—चाहे किसी को कोई हर्ष का अवसर प्राप्त हो, चाहे विषाद का, ज्योतिषी यही कहता है कि मैंने तो पहले ही कह दिया था लोगों के इष्ट और अनिष्ट फलों को ग्रह-नक्षत्रों की गतियों का परिणाम बताते हुए वह मीन-मेष-वृष आदि राशियों की गणना करके लोगों को भरमाता रहता है।

यहां आपातकाल के समय जिन ज्योतिषियों की भविष्यवाणियां गलत सिद्ध हुईं—और उनमें बड़े से बड़े ज्योतिषी शामिल हैं—उनकी गणना करने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता उन तांत्रिकों का नाम लेने की भी नहीं है जो आए दिन किसी न किसी को भिराने या चढ़ाने के लिए मारण, मोहन उच्चाटन आदि अभिचार-क्रियाओं का प्रयोग करते रहते हैं। उन स्वामियों,

सिद्धों और साधुओं का भी परिगणन करने की क्या आवश्यकता है जो अपनी लम्बी जटाएं बढ़ाए, विचित्र वेष धारण किए, मंत्रों से अभिषिक्त भूत अपने भक्तों को देते हैं या चरणामृत पान करवाते हैं। उन पहुँचे हुए लोगों का चमत्कार तो राष्ट्रपति-भवन से लेकर संसद भवन की दीर्घाओं तक चर्चियों का विषय बन चुका है—कभी पेड़ों के रूप में, कभी पुष्पहार के रूप में और कभी इत्र के रूप में।

फिर उन ज्योतिषीप्रवरों को भी क्या कहें—जिन्होंने अमुक मंत्री को आश्वासन दिया था कि तुम फलानी तारीख तक अवश्य प्रधानमंत्री के पद को सुशोभित करोगे, परन्तु हुआ यह कि उस तारीख के आने से पहले ही वे मंत्रिमण्डल की सदस्यता तक से वंचित हो गए।

कहा न कि परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो, परन्तु ज्योतिषी कभी गलत नहीं होता। आपके समझने का भ्रम हो सकता है। जैसे मान लीजिए, आपने आसन्नप्रसवा पत्नी को लक्ष्य करके पूछा कि लड़का होगा, या लड़की। ज्योतिषि महोदय ने अपनी अकाट्य वाणी में कहा, 'पुत्रो न पुत्री।' आप सुनकर प्रसन्न हो गए कि पुत्र होगा, पुत्री नहीं। परन्तु भाग्यवश हो गई पुत्री। आपने ज्योतिषी जी से शिकायत की। ज्योतिषी ने बड़े सहज भाव से अपनी व्यावसायिक मुद्रा को अक्षुण्ण रखते हुए कहा—'मैंने तो आपसे पहले ही कहा था—'पुत्रो न, पुत्री'—अर्थात् पुत्र नहीं, पुत्री होगी। अगर पुत्र हो जाए, तब तो ज्योतिषी जी प्रभूत दक्षिणा के पात्र हैं ही, क्योंकि उन्होंने पहले ही पुत्र होने का आशीर्वाद दे दिया था।

राजनीतिज्ञों को अपना वंशवद बनाने वाले ज्योतिषियों की इस चर्चा के साथ महाकवि बिहारी की भी एक वक्रोक्ति स्मरण आ रही है—

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।

नित प्रति पुन्यौई रहे आनन ओष उजास ॥

—नायिका के मुख की लावण्य-भरी उजास के कारण उस घर के चारों ओर तो सदा पूर्णिमा ही बनी रहती है। लोगों को पता ही नहीं लगता कि आज कौन-सी तिथि है। इसलिए बेचारों को ज्योतिषी के पास जाकर प्रार्थना करनी पड़ती है कि कृपया पत्रा देखकर आज की तिथि तो बता दीजिए।

महिलाओं के कुछ चतुर्थी-व्रत ऐसे होते हैं जिनमें चौथ के चांद को अर्घ्य

देकर ही व्रत खोला जाता है। ऐसे ही एक प्रसंग पर बिहारी की नायिका से उसकी सखी कहती है—

तू रहि, हौं ही सखि, लखीं, चड़ि न अटा, बलि, बाल ।

सबहिनु विनु ही ससि-उदै दीजत अरघ अकाल ॥

—तू यहीं रह, अटारी पर मत चढ़, चांद में ही देख आऊंगी। यदि तू कहीं अटारी पर चढ़ गई तो अन्य सब स्त्रियां अमवश तुझे ही चांद समझ कर अर्घ्य देने लग जाएंगी।

पर नायिका नहीं मानी, चन्द्रमा को अर्घ्य देने के लिए अटारी पर चढ़ ही गई। तब सखि ने नायिका का आंचल पकड़ कर कहा—

दियौ अरघु, नीचे चलौ संकटु भानै जाई ।

सुचिती हवै औरो सबै ससिहि विलोकै आई ॥

—अरी अर्घ्य दे दिया है तो नीचे चल न, जिससे औरों का संकट तो दूर हो। अब दूसरी औरतों को भी तो निश्चिन्त होकर चन्द्रमा को अर्घ्य देने दे।

पर चर्चा तो ज्योतिषी और राजनीतिज्ञों की चल रही है। जिनको अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं होता या अपनी नीतिमत्ता पर भरोसा नहीं होता, वे ही दैवशों की शरण तलाश करते हैं। कोई-कोई राजनीतिज्ञ तो अपने प्रत्येक काम के लिए मुहूर्त निकलवाते हैं, शकुन-अपशकुन की तलाश करते हैं और कार्य-सिद्धि के लिए जप-तप, यज्ञ-याग तथा अन्य अनुष्ठान करवाते हैं।

जिस तरह मंत्रीगण या उनके परिचर या उनके 'वज्ररंगवली' ज्योतिषियों के पीछे दौड़ते हैं उसे दृष्टि में रखते हुए एक विनम्र सुभाष देने की बात मन में आती है। मंत्रियों का अधिकांश समय उद्घाटन-विमोचन, भाषण-प्रवचन, सुलह-सफाई, एकता-प्रयत्न और डिनर पार्टी आदि में व्यय होता है, उन्हें देश के या अपने मंत्रालय के आवश्यक कार्यों के लिए फुरसत ही नहीं मिलती। क्यों न एक उद्घाटन-मंत्री, एक सुलह मंत्री, एक डिनर मंत्री, और हां एक ज्योतिष मंत्री—अलग से नियुक्त कर दिया जाए। इन बाहरी कामों को ये नए मंत्री संभालें और शेष मंत्री अपने अपने विभाग के कामों को देखभाल के लिए समय निकाल सकें। अब तो बेचारों को फुरसत ही नहीं मिलती। ❀❀

हमीं अपने दुश्मन हुए जा रहे हैं

रात अंधेरी थी। आसमान में न चांद दिखता था, न तारे। रात बीतने के कोई लक्षण नजर नहीं आते थे। बच्चे-बूढ़े, सब निराश हो गए थे। कुछ लोग उस अंधेरे से ही समझौता करके किसी तरह जिन्दगी काटने की जुगत कर रहे थे। अचानक अंधेरी रात समाप्त हो गई। चारों तरफ हर्ष और उल्लास का वातावरण छा गया। पूर्व दिशा में अरुणिमा दिखाई दी। लोग उत्सुकतापूर्वक सूर्योदय की प्रतीक्षा करने लगे। पर चिर-अभिलषित सूर्योदय नहीं हुआ।

एक पिंजरा था। उसमें पंछी बंद था। किसी तरह पिंजरे में ही चुग्गा उसे मिल जाता, तो उसका पेट तो भर जाता, पर जब उड़ने के लिए अपने पंख खोलता तो देखता कि उसे चारों ओर से किसी तानाशाह की तीलियों ने जकड़ रखा है और नित्य प्रति उन तीलियों की प्रशस्ति में कर्णभेदी वाद्यवृन्द बजता रहता है। अचानक पिंजरे की तीलियां टूट गईं, द्वार खुल गया और पंछी आपातकाल के पिंजरे से बाहर निकल आया। पंछी को उड़ने के लिए अनन्त आकाश मिल गया। पर पंछी उड़कर पास के एक पेड़ पर जा बैठा और अनन्त आकाश में उड़ने की अपनी सामर्थ्य खो बैठा।

एक अंधेरी सुरंग थी। जंगल के खूंखार दैत्य ने जब भयंकर गर्जन किया तो आतंक के कारण सब लोग उस अंधेरी सुरंग में जा छिपे। अचानक सुरंग में छिपे लोगों को पता लगा कि वह खूंखार दैत्य तो अपनी मौत आप घरा-शायी हो गया, तो लोग हंसते-भाते नाचते-कूदते सुरंग में बाहर निकले और दैत्य के विनाश की खुशियां मनाने लगे। पर जशन का समय बीत चुका तो

हमीं अपने दुश्मन हुए जा रहे हैं १६१

सुरंग-वासी लोगों के नेता आपस में ही लड़ने लगे । शेष जनता उन नेताओं की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रही थी । पर जब नेता ही दिशा-हीन हों तो जनता के पास सिवाय दिशा हीन होने के और उपाय क्या है ?

भारतवासियों को नारे बहुत प्रिय हैं । स्वतंत्रता प्राप्त करते ही जब भारत की राजमुद्रा में 'सत्यमेव जयते' का नारा अंकित किया गया तो जनता को इस वैदिककालीन शाश्वत जयघोष से बड़ी राहत मिली और उसके मन में आशा बंधी कि अब सत्य की विजय होकर रहेगी । सत्य की विजय के साथ शिव और सुन्दर भी अपने आप लगते चले आएंगे और सत्य-शिव-सुन्दर के समन्वय के साथ यह देश सुख-समृद्धि के सोपान पर द्रुतगति से बढ़ता चला जाएगा । पर एक कवि ने लिखा है—

सत्य की हत्या के लिए
जरूरी नहीं
रायफल और तलवार
इतना ही काफी है—
जोर से बोल दे
सत्य की जय जयकार ॥

जोर-जोर से सत्य का जय जयकार होता रहा और सत्य की अनायास हत्या होती रही ।

फिर नारा आया—आराम हराम है । इस नारे से भी कुछ लोगों का आराम বেশक हराम हुआ हो, पर बहुतों को बहुत आराम मिला । बड़े-बड़े उद्योगों के और बड़े-बड़े बांधों के सहारे देश के आर्थिक विकास की नींव रखी गई, देश में औद्योगिक क्रांति और कृषि क्रांति का स्वर भी गूँजा, पर वह क्रांति दूर ही दूर रही । तब नारा आया—जय जवान, जय किसान । इस नारे से देश के किसानों और जवानों की ओर नए सिरे से सबका ध्यान गया पर इससे भी देश की गरीबी नहीं हटी । तब नारा आया—'गरीबी हटाओ ।' इस नये नारे से कितने लोगों की गरीबी हटी, यह तो अनुमान का विषय है, पर प्रत्यक्ष जो दिखाई दिया वह यह कि शहरों में जहाँ गरीब थे,

वे हटा दिए गए। जब गरीब सामने नहीं पड़ेंगे, तब गरीबी अपने आप मुंह छिपा लेगी।

नवीनतम नारा है—‘भारत बचाओ’। अब तक और नारों का जो हथुआ, शायद इस नारे का भी वही हथुआ हो। पर नारों में सचमुच ही अपनी जीवनावधि तक लोगों को मन्त्रमुग्ध करने की शक्ति छिपी रहती है। जब पराधीनता के युग में ‘भारत छोड़ो’ आन्दोलन चला था, तब उसका लक्ष्य विदेशी शक्ति को बाहर निकालकर सत्ता भारतवासियों को सौंपना था। पर अब इस ‘भारत बचाओ’ का लक्ष्य परदेशी या पराये नहीं, स्वयं भारतवासी हैं। भारत को बचाना सचमुच बहुत आवश्यक है, पर आखिर किससे ?

एक गुजराती कहानी याद आ रही है। बस की प्रतीक्षा में जब उकता गए तो एक व्यक्ति ने साथ ही खड़े दूसरे व्यक्ति से बात का सिलसिला शुरू करने के लिए पहले तो बस वालों की नमक हुरामी को कोसा, फिर उनसे पूछा कि आपको कहाँ जाना है। साथ वाले ने सहज भाव से बता दिया। पर अब तो रास्ता खुल गया था। पहले वाला इस दूसरे व्यक्ति से उसका नाम, धाम, पेशा, वेतन, फिर घर वार, वाल बच्चे, फिर बच्चों के नाम—उनकी शिक्षा-दीक्षा आदि के बारे में एक-एक करके पूछता ही रहा, चुप ही नहीं होता था। अन्त में जब दूसरा व्यक्ति बहुत ‘बोर’ हो गया तो लाचार होकर उसने कहा—‘तुमने तो फालतू सवाल कर करके मेरे सिर में दर्द कर दिया। क्या तुम चुप नहीं रह सकते ? परन्तु पहले व्यक्ति के चेहरे पर कोई शिकन नहीं पड़ी। बल्कि उसने सहज प्रसन्नता से कहा—‘अहा !’ आखिर आपके सिर में दर्द हो ही गया—मैं इसी क्षण की तो प्रतीक्षा में था। बात यह है कि मैं दवाइयों की एक कम्पनी का एजेंट हूँ और वह कम्पनी सिर दर्द की दवाई तैयार करती है। उस कम्पनी की दवाई कैसे कारगर होती है, यह आप आजमा कर देखिए। मैं अभी आपको गोली देता हूँ। गोली खाते ही आपका सिर दर्द एकदम नदारद न हो जाए तो मेरा नाम नहीं।’ और यह कहकर उसने अपने थैले में से उक्त कम्पनी की गोली निकाल कर उस दूसरे व्यक्ति की हथेली पर रख दी और कहा—‘एक गोली सिर्फ चार आने की है।’

कम्पनी के उस एजेण्ट की तरह अपनी गोलियों की सार्थकता सिद्ध करने के लिए पहले कुछ लोग सिर दर्द पैदा करना आवश्यक समझते हैं। 'भारत बचाओ' के नारे के पीछे भी मेहरबानों की कुछ इसी प्रकार की मसलहत् दिखाई देती है। मीर तकी 'मीर' की एक रुवाई है—

तुम तो ऐ मेहरबान
अनूठे निकले
जब आन के पास बँडे
रुडे निकले ।
क्या कहिए, बफा
एक भी वादा न किया
यह सच है कि तुम
बहुत भूडे निकले ॥

पर मीर साहब की यह उक्ति केवल कम्पनी के एजेण्टों पर ही नहीं, गैर-एजेण्टों पर भी उतनी ही खूबी से चस्पा होती है। क्योंकि वादों को बफा करने से ये भी उतने ही दूर हैं, जितने वे दूर थे।

तो क्या 'भारत बचाओ' की जरूरत नहीं है? है, अवश्य है। पर भारत को किससे बचाना है, यही सोचने की बात है। जो भारत को बचाने के लिए पहले उसे डुबाना चाहते हैं, सबसे पहले तो उन्हीं से भारत को बचाने की आवश्यकता है। फिर भारत को उनसे बचाने की आवश्यकता है जो वायदे तो लाखों-करोड़ों के करते हैं, पर देते छदाम नहीं। भारत को उन्हीं से बचाने की आवश्यकता है जो नाम लोकतंत्र का लेते हैं पर स्वयं घटकवाद से उबर नहीं पाते। नाम सिद्धान्त का लेते हैं, पर उनके पास सिवाय दलीय और व्यक्तिगत स्वार्थ के और कोई सिद्धान्त नहीं है। भारतीय होकर जो मानसिक दृष्टि से विदेशी भाषा-भूषा-संस्कृति और आचार-विचार के गुलाम हैं। जो गांधीवाद का नारा लगाते हैं, पर गांधी को कालातीत और अजायबघर की चीज समझते हैं। जो गरीबों के मसीहा बनते हैं, पर स्वयं विलासितापूर्ण जीवन बिताते हैं। जो देश भक्ति का उपदेश देते हैं, पर जिनके बच्चे विदेश में पढ़ते हैं। जो आध्यात्मिकता का राग अलापते हैं, पर स्वयं आपाद मस्तक

१६४ देवता : कुर्सी के

भौतिकता में लिप्त हैं। जिसकी कथनी और करनी में अन्तर है। जो व्यक्ति को या परिवार को या दल को राष्ट्र से बड़ा समझते हैं। जो सत्ता की कुर्सी को हस्तगत करना ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। जो राजनीति में से नीति को निकाल देना चाहते हैं। जो देश के भविष्य के प्रति निराश होकर कहते हैं कि इस देश में लोकतंत्र सफल हो ही नहीं सकता।

भारत को किन-किन से बचाना है—यह सूची बहुत लम्बी है। संक्षेप से इतना ही कह सकते हैं कि जो सारे देश को बदल डालना चाहते हैं, पर अपने आपको नहीं बदलना चाहते। भारत को उन्हीं से बचाना है। वे कौन लोग हैं? हम खुद हैं। जिगर मुरादाबादी कह गए हैं—

वो आलम है अब
यार-ओ-अगियार कैसे
हमीं अपने दुश्मन
हुए जा रहे हैं।

हमारा खूने जिगर है हर चमन के लिए

सभ्यता का इतिहास कब से प्रारम्भ होता है, यह कहना तो कठिन है, पर एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है—और वह यह कि सभ्यता का इतिहास चाहे जब से प्रारम्भ हुआ हो, परन्तु उसके मूल में सभा और सभ्य अवश्य हैं। 'सभ्य' शब्द का अर्थ ही है—'सभायां साधुः'—जो सभा में अपनी कुशलता प्रदर्शित कर सके। किसी को 'असभ्य' कहना भले ही आजकल गाली समझी जाती हो, परन्तु उसका सीधा अर्थ यही है कि अमुक आदमी सभा के तौर-तरीके नहीं जानता, इसलिए सभा में बैठने के काबिल नहीं है।

समाजशास्त्रियों ने बहुत सोच समझ कर मनुष्य को 'सामाजिक प्राणी' कहा है। समाज में रहना मनुष्य की नियति है, उसका विशेषाधिकार है, पर इसके साथ ही समाज के प्रति उसके कुछ दायित्व भी हैं और जो उन दायित्वों का उचित रीति से निर्वाह नहीं करता वह असामाजिक प्राणी है। 'असामाजिक' व्यक्तियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाए, इसके लिए प्रत्येक देश के सभ्य समाज ने अपने कायदे-कातून बना रखे हैं।

सभ्यता के उषाकाल में ही, अथर्ववेद में प्रार्थना की गई थी—

सभ्य सभां मे पाहि पाहि सभ्याः सभासदः।

—हे सभा के सदस्य ! तू अपनी सभा की रक्षा कर, और हे सभा ! तू अपने सदस्यों की रक्षा कर। जब तक दोनों एक दूसरे की रक्षा नहीं करेंगे तब तक दोनों ही असुरक्षित रहेंगे। परन्तु सभा कैसी होनी चाहिए, इसका भी एक संकेत महर्षि व्यास ने किया है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद् यच्छलमभ्युपैति ।

—जिसमें वृद्धजन न हों, सभा नहीं। जो धर्म की बात नहीं कहते, वे वृद्ध नहीं। जिसमें सत्य न हो, वह धर्म नहीं और जहाँ छल का वास हो, वहाँ सत्य नहीं। पर बहुत बार सभा-सोसायटियों में लोग छल का जितना आश्रय लेते हैं उतना सत्य का नहीं। इसलिए महाराज मनु ने सभा के प्रवेश के साथ यह शर्त लगाई है—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वासमंजसम् ।

अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति कित्वधी ॥

—या तो सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए, यदि प्रवेश किया है तो वहाँ सदा न्याययुक्त बात ही कहनी चाहिए। सभा में प्रविष्ट होकर जो व्यक्ति न्याय की बात नहीं कहता या अन्याय का पक्ष लेता है, वह पाप का भागी होता है। पर सभा में सैकड़ों-हजारों आदमियों के समक्ष खड़े होकर अपनी बात कह सकना, अन्याय का डटकर विरोध करना और न्याय का बलपूर्वक पक्ष लेना सामान्य जन के बश का नहीं। इसके लिए जहाँ विद्या-बुद्धि और वाणी की साधना चाहिए, वहाँ साथ ही आत्मिक बल भी चाहिए। क्योंकि अन्याय की समर्थक शक्तियाँ बड़ी साधन-सम्पन्न होती हैं और वे अपने मार्ग में रोड़ा बनने वाले को आसानी से क्षमा नहीं करतीं। महाकवि भारवि ने कहा है—

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां

मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ।

नयन्ति तेष्युपपन्न नैपुणा

गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥

—विद्वानों में भी सब से अधिक सभा-चतुर वे होते हैं जो अपने मन में निहित भाव को वाणी द्वारा व्यक्त करने में समर्थ हों। पर उनमें ऐसे निपुण तो बहुत कम लोग होते हैं जो किसी गम्भीर अर्थ का भी प्रकाश कर सकें।

हमारा खुने जिगर है हर चमन के लिए १६७

जब 'गम्भीर अर्थ' की बात आ गई तो सहसा 'गम्भीर' शब्द से गहराई का अर्थ लिए हुए एक अन्य कवि की चमत्कारपूर्ण उक्ति भी सहसा स्मृति-पथ पर उतर आई—

या कर्षति निजयोगाद् अन्तर्गतं जीवनानि सरसानाम् ।

वाणी सैव गुणवतीधृटीव यद्वा बधूटीव ॥

—वाणी और घर की बहू तो वही अच्छी लगती है जो घड़े के समान गुणवान् हो। जैसे गुणवान् (रस्सी वाला) घड़ा गहरे कुएं में से जल निकाल कर लोगों की प्यास बुझाने का काम करता है, या गुणवती बहू अपने आचार विचार से घर के बड़े-बूढ़े बुजुर्गों के हृदयों को सन्तुष्ट करती है कभी उन्हें शिकायत का अवसर नहीं देती, वैसे ही वाणी तो वही अच्छी है जो सहृदय सुधीजनों को आकर्षित कर सके।

कुछ लोग अपने कुशल वक्ता होने का प्रमाण देने के लिए बहुत बोलते हैं। उनको लक्ष्य करके भी नीतिकारों ने कहा है—

अल्पाक्षरं रमणीयं यः कथयति निश्चितं स खलुवाग्मी

बहुवचनमल्पसारं यः कथयति विप्रलापी सः ॥

—वक्ता वह है जो संक्षेप में सुन्दर और सारवान् बात कहे। थोड़े सार वाली बात को भी खूब विस्तार से कहने वाला तो निरा वक्ता ही है।

देश की सबसे बड़ी सभा है—लोकसभा। इसमें सारे देश के चुने हुए प्रतिनिधि आते हैं। यही प्रतिनिधि उन नियमों का निर्धारण करते हैं जिनके अनुसार सरकार देश का शासन चलाती है। मंत्रीगण भी अपने प्रत्येक कार्य के लिए लोकसभा के प्रति जिम्मेवार हैं। देश के ६० करोड़ निवासियों के भाग्य के निर्णय का अधिकार जिनके हाथ में हो और सदन के किले में बैठ कर जिन्हें मनचाही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का विशेषाधिकार प्राप्त हो, उन संसत्सदस्यों के सिर पर कितना बड़ा दायित्व है, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। पर कितने संसदसदस्य हैं जो इस दायित्व की गरिमा को समझ कर तदनुकूल आचरण करते हैं? क्या संसद में बैठकर भी वे देश के बजाय अपने-अपने दलों के स्वार्थों से प्रेरित नहीं होते? जिस चुनाव-क्षेत्र के निवासियों ने अपने यहां के संसत्सदस्य के बारे में 'गुमशुदा की तलाश' का

१६८ देवता : कुर्सी के

विज्ञापन निकलवाया हो, उसके बारे में क्या कहेंगे ? फिर जो सदस्य 'ब्रुवन्' (कभी न बोलने) या 'विब्रुवन्' (सदा विरुद्ध बोलने) के आदी हों, या अना-वश्यक विस्तार करके अपने को वाम्भी सिद्ध करना चाहते हैं, या अपने दल के नेता के इशारे पर हाथ खड़ा करने या सदन से वाक आउट करने मात्र को अपने कर्तव्य की इति-श्री मान लेते हैं, या अपनी उचित-अनुचित भांग के माने जाने तक हंगामा खड़ा करके सदन की कार्रवाई नहीं चलने देते, उनके बारे में क्या कहेंगे ? शायद उन पर शायर की यह उक्ति फिट हो—

यों जिनके दम से तारीकियां हुई दूर ।

तरस रहे हैं वही आज रोशनी के लिए ॥

जिस तरह हमारा देश अनेक विविधताओं से परिपूर्ण है, वैसे ही हमारी संसद भी वैविध्यपूर्ण है । इस विविधता के साथ कभी-कभी बोरो-शायरी का भी आलम बन जाता है, तो वातावरण रंगीन हो उठता है । जब राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त राज्यसभा के सदस्य थे तब वे हर साल बजट पर अपनी प्रतिक्रिया कविता के रूप में प्रकट किया करते थे । जब श्री चिन्तामणि देशमुख वित्तमंत्री थे, तब वे उस कविता का जवाब संस्कृत के श्लोक दिया करते थे ।

यों आमतौर पर राजनीतिक वहसें नीरस हुआ करती हैं, पर जब कोई कवि-हृदय किसी वहस में शामिल होता है तो सदन में रौनक आ जाती है । यों इस तरह के प्रसंग अनेक बार आते रहते हैं, पर एक प्रसंग हाल में ही उपस्थित हो गया । श्रीमती हवीकुल्ला ने अपना भाषण समाप्त करते हुए कहा—

हमने माना कि तगाफुल न करोगे लेकिन ।

खाक हो जाएंगे हम तुमको खबर होने तक ।

इसका उत्तर रसायन और पेट्रोलियम मंत्री श्री हेमदत्तीनंदन बहुशुणा ने यों दिया—

बहारें चाहें तो ले जाए आवे हयात ।

हमारा खूने जिगर है हर चमन के लिए ॥

